Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 10 अंक 1 जनवरी 1996

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वर्ष 10 अंक 1 जनवरी 1996

उन्मीलन

मानसिक हिन्दस्वराज का वैतालिक दार्शनिक षाण्मासिक

सम्पादक

यशदेव शल्य : मुकुन्द लाठ

सहयोगी

गोविन्दचन्द्र पाण्डे, दयाकृष्ण
रमेशचन्द्र शाह, अशोक वाजपेयी

दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संपादन-सहयोगी

1. गोविन्दचन्द्र पांडे, 11, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद – 211002
2. दयाकृष्ण, बी-189/ए, विश्वविद्यालय मार्ग, बापूनगर, जयपुर 302015
3. रमेशचन्द्र शाह, एफ 3/2, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल–462002
4. अशोक वाजपेयी, सी 2/43, शाहजहां रोड, नई दिल्ली–110011

संपादक

1. यशदेव शल्य, पी-51, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर–302015
2. डॉ. मुकुन्द लाठ, ए. 37/38, विश्वामित्र मार्ग, श्याम नगर, अजमेर रोड, जयपुर–302006

वार्षिक शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 30/-
संस्थाएं — रु. 50/-

आजीवन शुल्क
व्यक्तिगत — रु. 300/-
संस्थाएं — रु. 1500/-

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विषय-सूची

1.	आओ कुछ सोचें	दयाकृष्ण	1
2.	वैदिक दर्शन और सृष्टि-प्रक्रिया	रामाश्रय राय	13
3.	प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था	अम्बिकादत्त शर्मा	33
4.	न्यायमंजरी	अनुवादक सिद्धेश्वर भट्ट एवं शशिप्रभा कुमार	49
5.	उन्मीलन-गोष्ठी–1 (विषय : हास्य)	राजेन्द्रस्वरूप भटनागर यशदेव शल्य	80
6.	उन्मीलन-गोष्ठी–2 (विषय : यशदेव शल्य का दर्शन)	मुकुंदलाठ, नंदकिशोर शर्मा, दयाकृष्ण, राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, यशदेव शल्य	81
7.	"श्री यशदेव शल्य का दर्शन" विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी, जबलपुर का कार्य-विवरण	छाया राय	89

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आओ कुछ और सोचें

दयाकृष्ण

अभी कल ही की तो बात है, मैं भूल ही गया था। पर वहाँ पता चला कि एक बहुत बड़ा सेमीनार "ऋत" पर हो रहा था। "ऋत" की चर्चा वेदों में हुई है और यह उनमें एक मूल विचार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसलिए इस पर विचार होना स्वाभाविक ही है। पर मैंने एक मित्र से यह भी सुना कि वहाँ बहुत बड़े बड़े वैज्ञानिक लोग भी भाग ले रहे थे जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की व्यवस्था के बारे में विचार प्रस्तुत कर रहे थे और यह कहने की कोशिश कर रहे थे कि सारा जड़ जगत्, जो भौतिक विज्ञान का विषय है, उसे गहराई से देखने पर एक ऐसी अन्तर्व्याप्त व्यवस्था का दर्शन होता है जिसे देखकर मनुष्य चकित रह जाता है, और जैसा कि सब को पता है आधुनिक विज्ञान के कई प्रणेताओं ने यह भी कहने की कोशिश की है कि अव्यवस्था से ही व्यवस्था का जन्म होता है। इस बारे में इलिया प्रिगोगिन की किताब भी है **ऑर्डर आउट आफ़ क्योस**। यही नहीं, आजकल तो क्योस पर भी बहुत सी किताबें हैं और इसके गणित की भी संरचना हुई है। पर ज़रा सोचिए कि शुद्ध जड़ प्रकृति के संदर्भ में यह बात कहने का, कि उसमें व्यवस्था है या अव्यवस्था, यह नियम से संचालित होती है या ऐसे ही, क्या अर्थ होगा? 'अराजकता', 'अव्यवस्था' आदि शब्दों का सार्थक प्रयोग एवं सोच केवल राज्य और मनुष्य की बनाई हुई संस्कृति के सन्दर्भ में ही मूलतः युक्त है। हम यह मानकर चलते हैं कि जो हो रहा है वह ठीक नहीं है, उससे अनेकानेक मनुष्यों को हानि ही नहीं होती बल्कि प्रत्येक व्यक्ति, जो सहज रूप में अपना काम करना चाहता है और ऐसें काम जो स्वयं में ठीक हैं, कम से कम अशुभ नहीं हैं, या किसी दूसरे का अहित भी जिनसे नहीं होता, वे कार्य भी अशुभ नहीं हैं। अव्यवस्था या अराजकता किसी व्यवस्था या मनुष्य द्वारा रचित नियमों को मानकर चलती है। पर प्रकृति में यह कहने का कि यहाँ अव्यवस्था है या अराजकता है, इसका अर्थ क्या होगा? क्या जब हवा धीरे-धीरे बहती है तब व्यवस्था है और जब तूफान या बवण्डर आकर हज़ारों घरों को बर्बाद करता है तब वह अराजकता कहलायेगी? इसी तरह, जब भूचाल आता है और पृथ्वी फट जाती है और नगर के नगर नष्ट हो जाते हैं तब क्या वह अव्यवस्था या अराजकता की सूची में माना जाएगा? क्या कभी कोई ऐसा उदाहरण सोचा जा सकता है जो प्रकृति में अराजकता या अव्यवस्था होने का उदाहरण हो? वैसे तो जो भी होता है वह व्यवस्था का ही उदाहरण होगा, क्योंकि 'अव्यवस्था' जैसे शब्द का इस संदर्भ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में प्रयोग ही अनुचित है, और अगर हम केवल ऐसी कोई "व्यवस्था" मानें जो मनुष्य के लिए या प्राणि-जगत् के लिए हितकर हो तो यह तो तभी हो सकता है जब हम यह मानकर चलें कि सारा विश्व मनुष्य के हित के लिए ही बनाया गया है। पर इस 'मानना' का क्या आधार है? कम से कम आज का विज्ञान तो इसको मूल रूप में ही अस्वीकार करता है। यही नहीं, इस पर और गहराई से विचार करें तो यह सवाल होता है कि जड़ जगत् में व्यवस्था की बात करना किसी भी परम शक्ति की कल्पना करना नहीं है, जो इसका नियमन करती है। यदि ऐसा नहीं मानें तो फिर मनुष्य के द्वारा प्रकृति के क्षेत्र में व्यवस्था की बात करने का औचित्य समझना कठिन होगा। व्यवस्था किसकी और किसने बनाई और क्यों और किसके-लिए बनाई?

इस सबका सीधा-सादा मतलब यह है कि जड़ जगत् के संदर्भ में किसी व्यवस्था-अव्यवस्था की बात करना उसको मनुष्य के बनाए हुए समाज या राज्य के अनुरूप ही समझना होगा और उन दोनों में कोई मूलभूत भेद अस्वीकार करना होगा। पर यह तो उस सब को एक प्रकार से नकारना है जो आधुनिक विज्ञान को 'आधुनिक' बनाता है, जिसे एक तरह से पश्चिमी सभ्यता में मध्ययुगीन दृष्टि कहा जाता है, और जिसका खण्डन करके आधुनिक विज्ञान का उदय हुआ था। इस तरह की दृष्टि सब पुरानी संस्कृतियों व सभ्यताओं में मिलती है। जिसे आज हिन्दू 'धर्म' का नाम दिया जाता है उसमें तो यह स्पष्ट ही परिलक्षित होती है। ये सब संस्कृतियाँ करीब-करीब किसी न किसी रूप में ईश्वर को मानती हैं, जो जगत् का स्रष्टा है और जिसके बनाये नियमों के अनुसार ही जगत् चलता है। पर आज ईश्वर को कोई नहीं मानता और न ही यह कोई मानता है कि यदि ईश्वर है भी तो वह जगत् के किसी भी कार्यक्रम में कोई हस्तक्षेप कर सकता है। पर ऐसे ईश्वर को मानने से क्या फायदा जो अपनी सृष्टि के बारे में कुछ भी नहीं कर सके? और अगर हम यह मानें कि वह हमेशा जगत् में जो चाहे कर सकता है तब उस सृष्टि के अपने नियम तो कुछ हो ही नहीं सकते! और अगर ऐसा मानें कि भगवान् ने जो सृष्टि बनाई है वह अपने आप में इतनी ठीक होगी कि उसमें कभी भी कोई हस्तक्षेप की ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी, तो भी यह तो यह मानना है कि अव्यवस्था जैसी चीज़ हो ही नहीं सकती और किसी को यह लगना कि अव्यवस्था है, यह केवल उसके अज्ञान का ही परिणाम होगा।

इस प्रकार से देखने पर तो ऐसा लगता है कि इस मान्यता में कि जगत् सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सृष्टि है, या यह मानना कि यह स्वयं चालित है और अपने आन्तरिक नियमों से ही नियमित होता है, कोई विशेष भेद नहीं है। पर दोनों ही अवस्थाओं में जगत् के सम्बन्ध में अव्यवस्था की बात करना या तो उसको मानव के स्वार्थों के संदर्भ में देखना है या अपने अज्ञान का परिचय देना है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पर सवाल यह है कि क्या मनुष्य के बनाए हुए समाज और राज्य के संदर्भ में यह बात कही जा सकती है कि वहाँ भी कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि वहाँ अव्यवस्था जैसी चीज़ हो ही नहीं सकती और यदि किसी को वहाँ अराजकता या अव्यवस्था दिखाई देती है तो वह केवल उसके अज्ञान के ही कारण है, या इसलिए कि वह उसको अपने क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों के संदर्भ में ही देखता है? लेकिन मनुष्य होने का अर्थ तो यह है कि वह पुरुषार्थी है, यानि जो उसे असत्य, अशिव या असुन्दर प्रतीत होता है उसे सत्य, शिव या सुन्दर में बदलने की कोशिश करना उसका कर्त्तव्य है। उसे अपने में 'दृष्टि और शक्ति ये दोनों' महसूस होनी चाहिएं। 'दृष्टि' वह है जो उसे यह बताती है कि वह जो है वह ठीक नहीं है, उसमें कुछ परिवर्तन की आवश्यकता है और शक्ति वह जो उसे उस कर्म की ओर प्रेरित करती है जिससे उसकी वस्तुस्थिति में कुछ सुधार हो। इस 'दृष्टि' और 'शक्ति' के समन्वय का नाम ही पुरुष है और यही मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण माना गया है, जो लक्षण उसे अन्य सब योनियों या प्राणियों से भिन्न करता है। इस संदर्भ में तो भारतीय चिन्तन-परम्परा में यहाँ तक कहा गया है कि देवलोक के निवासी भी इस दृष्टि-शक्ति समन्वय के भागीदार नहीं होते, वे केवल अपने किये हुए कर्मों का भोग ही प्राप्त कर सकते हैं, किसी नये कर्म का सृजन नहीं। यह ठीक है कि दृष्टि और शक्ति दोनों मनुष्य में सीमित मात्रा में ही हैं, पर इनकी सीमितता ही पुरुषार्थ को जन्म दे सकती है क्योंकि कोई सर्वज्ञ है तो वह तो कुछ कर ही नहीं पाएगा और यदि सर्वशक्तिमान् है तो फिर यह कहना मुश्किल होगा कि वह सर्वज्ञ है या नहीं, क्योंकि कम से कम यह तो मानना पड़ेगा ही कि सर्वशक्तिमान् होने के लिए उसको यह पता न हो कि वह स्वयं क्या करने जा रहा है। क्योंकि अगर यह मानें कि उसे सब ज्ञात है, तो उसके लिए करणीय कुछ रहेगा ही नहीं। कर्म संभावनाओं के बीच ही हो सकता है, नियत स्थिति में नहीं।

भारतीय चिन्तन ने इस भेद को ऋत और धर्म के प्रत्ययों से समझने की कोशिश की थी और धर्म को मनुष्य का वह लक्षण माना था जो उसको अन्य प्राणियों से अलग करता है। पर ऐसा लगता है कि भारतीय परम्परा में धर्म और ऋत के सम्बन्ध में कोई गहरा विचार नहीं किया गया। ऋत तो वह है जिसका उल्लंघन हो ही नहीं सकता जबकि धर्म के साथ अधर्म इस हद तक जुड़ा हुआ है कि कई संदर्भों में तो अधर्म का नाश करना ही धर्म हो जाता है। स्वयं कृष्ण ने गीता में कहा है कि जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म बढ़ता है तब मैं अधर्म का नाश करने के लिए युग-युग में जगत् में अवतरित होता हूँ। "संभवामि युगे-युगे" गीता के प्रसिद्ध श्लोक का पद है और प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे ने तो इसको भारतीय परम्परा के चार मूल स्वरों में बतलाया है। लेकिन इस पर थोड़ा विचार करें तो लगता है कि बेचारे कृष्ण इसी सिद्धि में लगे हुए हैं जिसमें हर मनुष्य अपने को पाता है, क्योंकि मनुष्य का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धर्म से यह सम्बन्ध है कि अधर्म का नाश करे और धर्म की स्थापना करे। किन्तु थोड़ा और विचार करें तो इससे ज़्यादा हताशा की बात क्या होगी कि स्वयं भगवान् को धर्म की रक्षा और स्थापना के लिए बार-बार आना पड़ता है और एक बार स्थापना करने के बाद ऐसा नहीं होता कि धर्म का साम्राज्य स्थिर हो जाय। यह कैसी विडम्बना है कि राक्षसों का ही बोलबाला है, अधर्म ही शक्तिमान् है और धर्म का पालन करने वालों या धर्म की स्थापना की कोशिश करने वालों को हमेशा भगवान् ही सहायता की ज़रूरत होती है।

थोड़ा और विचार करें तो जो भी पुरुषार्थ है वह एक प्रकार से मनुष्य की अपेक्षा करता है, क्योंकि वह ऐसा सत्य है जो बग़ैर सतत प्रयत्न के न तो प्राप्त हो सकता है और न ही प्राप्त होने के बाद उसी स्थिति में बना रह सकता है, और 'धर्म' कुछ-कुछ इसी प्रकार की 'चीज़' मालूम होती है। इसके विपरीत जगत् में जो भी नियम हैं उनको लागू होने के लिए किसी के प्रयत्न की ज़रूरत नहीं होती। उनको एक प्रकार से 'नियम' भी कहना केवल मनुष्य के ज्ञान के सदंर्भ में ही ठीक लगता है, क्योंकि वास्तव में तो उनको नियम कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि वे ऐसे नियम हैं जो न तो किसी ने बनाये हैं और न ही उनका उल्लंघन किया जा सकता है। हमें तो यह भी नहीं मालूम कि उनके उल्लंघन की बात का अर्थ भी क्या होगा, क्योंकि अगर उनका कहीं उल्लंघन पाया जाता है तो इसका अर्थ यह है कि हमारा उन नियमों का ज्ञान ही ग़लत था और हमको अपने उल्लंघन के आधार पर उन नियमों में परिवर्तन की ज़रूरत महसूस होती है।

यह ठीक है कि आधुनिक विज्ञान कुछ इस प्रकार की बात भी करता है कि कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में ऐसे नियमों की बात ही नहीं की जा सकती जिनके आधार पर हम वस्तुस्थिति के बारे में पूर्णतया निर्धारित कर सकें कि वह किस प्रकार की होगी, और यह अपूर्णता कोई मनुष्य के ज्ञान की नहीं है बल्कि वस्तुस्थिति ही इस प्रकार की है कि ऐसा निर्धारण किया ही नहीं जा सकता। हाइज़नबर्ग का प्रसिद्ध सिद्धांत, जिसका नाम ही 'प्रिन्सीपल ऑफ़ इन्डिटर्मिनेसी' या 'प्रिन्सीपल ऑफ़ अन्सर्टेन्टी' है, इस बात की ओर इशारा करता है। इस संदर्भ में यह सब को विदित है कि आइंस्टाइन ने अपने जीवनभर इसको कभी भी अंतिम रूप में स्वीकार नहीं किया। उसने यह कहा था कि भगवान कोई मनुष्य के साथ जुआ नहीं खेलता है। उसका कहने का आशय यह था कि प्रकृति कोई इस प्रकार की चीज़ नहीं है कि इसमें यह पता ही नहीं हो कि पाँसे कब और कैसे पड़ेंगे। आधुनिक विज्ञान का झुकाव हाइज़नबर्ग की ओर अधिक है और आइन्स्टाइन की बात को तो अब कोई भी स्वीकार नहीं करता। इसी संदर्भ में आज विज्ञान के क्षेत्र में 'क्योस' की बात होती है। अधिकतर उनके कहने का सीधा-सादा अर्थ यह होता है कि पारमाणविक स्तर पर वस्तुस्थिति ही कुछ इस प्रकार की होती है कि उसके बारे में पूर्ण निश्चय के साथ यह नहीं कहा जा

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकता कि वह क्या और कैसा रूप लेगी। ऐसा ही कुछ-कुछ उस स्तर की घटनाओं के बारे में भी कहा जाने लगा है जो ब्रह्माण्ड के स्तर पर घटित होती हैं, यानि जहाँ देश का विस्तार अत्यन्त विशाल और गति अकल्पनीय रूप से तीव्र होती है।

पर ये सब बातें कितनी ही रुचिकर लगें इससे मूल बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक तो इससे न तो विज्ञान की प्रगति पर ही असर पड़ा है और न उससे निकलने वाली उस यंत्र-व्यवस्था पर जो मनुष्य के प्रकृति पर अधिकाधिक नियंत्रण का सबूत देती है। दूसरी ओर घटनाओं के बारे में निश्चितता कोई नई बात नहीं हैं। मनुष्य ने यह हमेशा जाना है और आज भी वह जानता है कि उसके अपने जीवन में समाज और राज्य में होने वाली घटनाएं मूल रूप से अनिश्चित ही रहती हैं। आज भी चाहे समाज और राज्य के क्षेत्र से सम्बन्धित ज्ञान को विज्ञान कहकर इन विषयों के जानने वाले अनेक लोग अपने को और दूसरों को इस मूल बात के बारे में भुलावा देने की कोशिश करें कि इन क्षेत्रों की वस्तुस्थितियाँ भी जड़ प्रकृति के समान निर्धारणीय हैं, किन्तु यह भुलावे से अधिक कुछ नहीं है। यह सही है कि इधर विज्ञान ने मनुष्य विषयक कुछ क्षेत्रों में भी प्रवेश कर लिया है, जैसे जनन-कण के क्षेत्र में और उससे स्त्री को पुरुष में और पुरुष को स्त्री में बदलना सम्भव हो गया है। पर इस परिवर्तन से क्या होता है? क्योंकि परिवर्तन होने के बाद तो उस बिचारे को या उस बिचारी को वही सब अनुभव करना या भोगना पड़ता है जो जन्मजात स्त्री या पुरुष के हिस्से में आता है। यही बात राज्य और अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भी ठीक लगती प्रतीत होती है, क्योंकि ऐसा नहीं लगता कि आज अन्याय कुछ कम हुआ है, या धर्म का प्रभाव पहले से कम या मनुष्य का मनुष्य से व्यवहार कोई कम सहानुभूति या स्नेह से प्रेरित होता है और अगर ऐसा है तो अधर्म से लड़ाई भी उतनी ही अनिवार्य होती है जैसी वह मनुष्य को हमेशा लगी है। रामायण-महाभारत आदि को पढ़ने पर जैसा वहाँ अधर्म का साम्राज्य दिखाई देता है वैसा ही कोई भी अपने चारों ओर देख सकता है, या दिखाई नहीं दे तो अख़बार में पढ़ सकता है।

पर यदि प्रकृति में कोई सर्वव्याप्त नियम होना, जिसे चाहे आप ऋत कहें चाहे कुछ और, मनुष्य की कोई सहायता नहीं करता तो उसी प्रकार ऐसा भी लगता है कि वे लोग, जिन्होंने संस्कृति या सभ्यताओं के मूल में मनुष्य की समस्या पर विचार किया है और उसको राह दिखाने की कोशिश की है, उनके प्रयत्न भी उतने ही बेकार साबित हुए हैं, फिर चाहे वे बुद्ध हों या महावीर, ईसा हों या मुहम्मद, कन्फ्यूश्यस हों या लाओत्स्ते, शंकर हों या रामानुज। क्योंकि इन सब के होने के बावजूद मनुष्य कुछ हद तक वैसे का वैसा ही दिखाई देता है जैसा कि वह प्राचीनतम युगों में पाया जाता है। आज भी हमारे सामने स्वयं इतने महापुरुष हुए हैं जिनका नाम लेते ही मस्तिष्क श्रद्धा से नत हो जाता है, जैसे—गाँधी, अरविन्द, रमन महर्षि आदि, पर जो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आज समाज और राज्य में इन सब लोगों के बावजूद है उसको बताने की भी ज़रूरत नहीं है। यही नहीं, महाभारत या रामायण का काल लें, जब भक्तों के अनुसार स्वयं भगवान ने कृष्ण और राम के रूप में अवतार लिया था, तब भी अब से कोई बहुत अच्छी स्थिति थी, ऐसा नहीं लगता। कृष्ण तो, ऐसा माना जाता है कि द्वापर के अंत में हुए और तब से ही कलियुग का प्रारम्भ भी माना जाता है। राम के बारे में तो यह स्पष्ट नहीं है कि उनके साथ त्रेता का अंत हुआ या नहीं पर राम-राज्य में सीता और शंबूक की जो दशा हुई वह सब को विदित है और राम के बाद साहित्य या इतिहास का या अयोध्या का पता ही नहीं चलता कि उसका क्या हुआ?

इसलिए ऐसा लगता है कि न ऋत का विचार हमारी कोई सहायता कर सकता है और न आदिकाल से चले आने वाले बहुत से प्रसिद्ध धर्मों का। धर्म-सम्प्रदायों के बहुत से संस्थापकों ने तो इस विषय में कहा है कि इसका कारण शायद यही है कि मनुष्य में धर्म करने की स्वतन्त्रता है और इसीलिए वह जब ठीक काम करता है तब वास्तव में उसे 'धर्म' का नाम देना उचित लगता है। क्योंकि प्रकृति में यदि कोई कण या वस्तु अपने नियम के अनुसार काम करती है तो चाहे एक अर्थ में उसको 'धर्म' ही कहा गया है किन्तु उसको चलाने के लिए हम उसकी कोई प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि वह उसके विपरीत तो कर ही नहीं सकता। उसने स्वेच्छा से उस नियम के अनुसार चलने का कोई चयन नहीं किया है। और अगर जड़ जगत् में पाये जाने वाले परमाणुओं के लिए कोई ऐसा कहे भी, जैसा प्रसिद्ध भौतिक शास्त्री रिचर्ड फाईनमैन ने कहा है, तो भी उस 'चयन' को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह किसी विचार से प्रेरित नहीं होता और न ही किसी आदर्श को प्राप्त करने की भावना या संकल्प से प्रेरित होता है, जबकि मनुष्य होता है।

फिर भी, जड़ जगत् में इसी नियम की बात करने और अध्यात्म जगत् में मनुष्य के संदर्भ में धर्म की बात करने में एक मूलभूत भेद अवश्य है और वह भेद यह है कि पुराने मनीषियों ने जो भी कहा है वह मनुष्य के स्वयं के चयन के संदर्भ में एक ऐसी सार्थकता रखता है जो प्रकृति में होने वाली कोई चीज़ कभी भी नहीं रख सकती। इसका एक कारण तो यह है कि वह सब अधिकतर मनुष्य के कर्म के संदर्भ में ही कहा गया है और जो भी उन्होंने कहा है वह अधिकतर मनुष्य की स्थिति को ध्यान में रखकर ही कहा गया है, जबकि जड़ जगत् के नियम जड़ जगत् की वस्तु के व्यापार से ही सम्बन्धित होते हैं और उनको 'जड़' कहने का अर्थ ही यह होता है कि उनमें उस चेतना का मूलतः अभाव है जो किन्हीं आदर्श मूल्यों की ओर 'उन्मुख' होती है और उनको अपने कर्म में चरितार्थ करने की चेष्टा करती है। इसीलिए जब हम किसी भी पुराने ऋषि या मनीषी की वाणी को सुनते या पढ़ते हैं तो ऐसा लगता है कि वह जैसे हमको ही सम्बोधित करके कुछ कहा गया है। पर यह ठीक होते हुए भी अनेक बार हमें ऐसा लगता है कि वह जो कहा गया है वह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उचित नहीं है। फिर भी, चूँकि हमारे संस्कृतिजन्य संस्कारों से उनके प्रति एक अपार श्रद्धा का भाव बना हुआ है इसलिए हम अपनी आशंका को या अपने सन्देह को परे रखकर यही सोचते हैं कि शायद हमने उनके सही अर्थ को पहचाना ही नहीं, या अभी हम खुद इतने परिपक्व नहीं हुए हैं कि उनकी बात को समझ सकें। पर यह भावना एक प्रकार से जहाँ यह बताती है कि पुरातन के प्रति हमारी कितनी श्रद्धा है वहीं दूसरी ओर यह अपने प्रति अविश्वास को भी प्रकट करती है। यही नहीं, यह अपने अनुभव और अपनी बुद्धि के प्रति ईमानदारी के अभाव को भी प्रकट करती है, क्योंकि ईमानदारी तो इसी में है कि अपनी बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर जो खरा नहीं उतरे उसको हम कम सें कम ऐसा ज़रूर कहें कि हमारी अपनी राय में वह ठीक नहीं है, फिर वह राय चाहे कितनी·ही ग़लत क्यों न हो। इसका मतलब यह नहीं है कि दूसरे जो भिन्न बात कहते हैं उसमें हमें कोई अश्रद्धा है, फिर वे दूसरे चाहे हज़ारों साल पहले के हों या अबके। हमारा उनकी बात को नकारने का यह भी मतलब नहीं है कि जो हमारा अपना मत है उसको हम अपने अनुभव या बुद्धि के आधार पर भविष्य में बदलने के लिए तैयार नहीं हैं। हमारे लिए तो केवल इतना ही कहना ईमानदारी की बात होगी कि बड़े-बड़े लोगों ने जो ऐसा कहा है, हो सकता है वह ठीक हो पर हमारा अनुभव और बुद्धि उसे ठीक नहीं ठहराती। अगर कोई यह पूछे कि इसका कारण क्या है तो हमें उसको वह कारण बताने के लिए तैयार रहना चाहिए।

मनु ने धर्म के ज्ञान की कसौटी के रूप में 'आत्मप्रियता' की बात की थी उसका शायद मतलब यही था। क्योंकि इसके पहले धर्म के ज्ञान के बारे में उन्होंने श्रुति, स्मृति और सदाचार की बात कह दी थी। अगर ध्यान से सोचें तो इन परम्परागत शब्दों को धर्म के ज्ञान के सम्बन्ध में एक नई दृष्टि से देखा जा सकता है। आख़िर अगर धर्म का अर्थ यह बोध ही होता है कि 'क्या करना चाहिए और क्या नहीं' तो इसका ज्ञान तो 'श्रुति' से ही प्रारम्भ होता है, क्योंकि आरम्भ में हम दूसरों से ही सुनते हैं ऐसा करो ऐसा नहीं करो। पर खाली सुनने से तो ज्ञान नहीं होता, उसको हमें अपने अन्दर दोहराना पड़ता है और इस दोहराने से ही वह हमारा अपना बनता है। इसी को स्मृति कह सकते हैं। जो 'सुना' था वह अब अपनी याददाश्त बन गया है और कभी कोई हमारे अन्दर से कहता है कि ऐसा करो या नहीं करो। पर धर्म-ज्ञान जैसे खाली सुनने से नहीं होता वैसे ही खाली दोहराने से भी नहीं होता, उसको तो आचरण में रूपान्तरित करना होता है। जब तक वैसा करने की या न करने की कोशिश नहीं की जाय तब तक खाली सुनना या न सुनना बेकार ही माना जाएगा। इसी को आचार या सदाचार कहा गया है। सदाचार का साधारण अर्थ यह लिया गया है कि जो सत्पुरुषों के आचरण में अभिव्यक्त हुआ है वही धर्म का मानदण्ड है और उसी से धर्म का ज्ञान होता है, पर इसको हम इस तरह से भी समझ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकते हैं कि अगर हमने अपनी ईमानदारी से, अपनी कोशिश से, जो सुना था और गुना था उसको व्यवहार में क्रियान्वित करने की चेष्टा की है और अगर इस क्रियान्वयन से हमारी आत्मा को संतोष नहीं मिलता तो हम यह मानें कि जो हम से कहा गया था, यानि जो हमने सुना था या उसका अर्थ जो हमने समझा है, उस सब में ही कहीं कोई ग़ल्ती है। इसलिए आत्मप्रियता धर्म की कसौटी के लिए उतनी ही ज़रूरी है जितनी श्रुति, स्मृति और सदाचार। यह ठीक है कि इस बारे में विद्वानों में मतभेद है कि इनमें कौन प्रधान या कौन गौंण है, या किसको प्राथमिकता दी जाय और किसको नहीं, या ये चारों संयुक्त रूप से धर्म के ज्ञान के अनिवार्य अंग हैं, पर हम जो कह रहे हैं उसके संदर्भ में इस बात का कोई विशेष महत्त्व नहीं है और न ही इस बात का कि हम जिस अर्थ में इनको समझने की चेष्टा कर रहे हैं वह एक परम्परा में माने हुए मनु के अर्थों से भिन्न या समान है। पर अगर ग़ौर से देखें तो हमने जो इसका अर्थ आज के संदर्भ में बताया है वह पारम्परिक अर्थ से उतना दूर नहीं है जितना पहली दृष्टि में दिखाई पड़ता है।

पर 'आत्मप्रियता' भी कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो हमेशा एक-सी रहती है, और यह तो सब को अपने खुद के अनुभव से मालूम है कि आज जो संतुष्टि प्रदान करता है वह कल नहीं करता और कुछ-कुछ यह बात श्रुति के बारे में भी सत्य है। श्रुतियाँ भी अनेक हैं, और यही आज जाने-माने व्यक्तियों के मत के बारे में भी सच है। ऐसी अवस्था में धर्म का निश्चय करना कोई आसान बात नहीं है, जैसा एक समय बच्चन जी ने कहा था कि 'पथ बताए कौन, सब तो हैं भटकते भूलते से, मच रहा है शोर। मत है ठीक मेरा।"

पर धर्म के बारे में केवल यही कठिनाई नहीं है। एक और कठिनाई यह भी है कि धर्म के साथ धर्मसंकट अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, जैसा कि श्री मुकुन्द लाठ ने अपने अनेक लेखों में दिखाने की कोशिश की है। वास्तव में धर्म-संकट धर्म का अभिन्न अंग इसलिए है कि हमारे धर्म अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक व्यक्तियों के संदर्भ में अलग-अलग होते हैं। यही नहीं, जब कोई ऐसे पद पर होता है जहाँ उसे जनता के समक्ष किसी के 'प्रतिनिधि' के रूप में काम करना होता है तब तो व्यक्तिगत धर्म और उस पद से सम्बन्धित धर्म में अनेक बार विरोध उत्पन्न होता है और इस विरोध को सुलझाना कोई सहज बात नहीं होती। सगे सम्बन्धी, मित्र आदि अनेक लोग, जिनके प्रति आपका आकर्षण होता है, और जिनको आप हमेशा प्रसन्न करना चाहते हैं, वे ही आपसे वह काम करने की आशा करते हैं जो 'प्रतिनिधि' धर्म के विपरीत हैं और जिसके करने से उन मूल्यों की हानि होती है जिनको पालने के लिए आपको उस पद पर प्रतिष्ठित किया गया है। राजनीति के क्षेत्र में तो यह सब को विदित ही है, पर अन्य क्षेत्रों में भी यह उतना ही सहज रूप में मिलता है जितना राजनीति के क्षेत्र में। और जहाँ तक व्यापार या वाणिज्य का क्षेत्र है वहाँ तो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह कहना ही मुश्किल है कि 'धर्म' क्या होगा। यही नहीं, इससे भी कठिन स्थिति तो तब उत्पन्न होती है जब मनुष्य उन आदर्श मूल्यों को चरितार्थ करने के लिए उन्मुख होता है जिनके बारे में सब यह मानते हैं कि वे परम पुरुषार्थ हैं। मोक्ष की साधना के लिए सन्यास लेना अपने यहाँ मानी हुई परम्परा है, पर सन्यास लेने का अर्थ ही यह है कि गृहस्थ-धर्मों और समाज-धर्मों का त्याग करना। अगर मोक्ष की बात छोड़ भी दें तो साधारण अर्थ में भी, जैसे ज्ञान की खोज में, धर्म-संकट उत्पन्न होता है, क्योंकि गृहस्थ-धर्म और समाज-धर्म आदि की उसमें कुछ न कुछ अवहेलना अवश्य होती है। यही बात कला के सम्बन्ध में भी है और समाज-सुधार में भी। इस प्रकार धर्म और धर्म-संकट एक-दूसरे से इतने बंधे हुए हैं कि यह तय कर पाना कि किस धर्म का पालन किया जाय और किसको छोड़ा जाय, अन्ततोगत्वा व्यक्ति की प्रज्ञा पर ही निर्भर करता है।

धर्म-संकट के इन अनेक पहलूओं पर अगर और गहराई से सोचें तो यह समझना और मुश्किल होगा कि अगर विश्व में 'ऋत' या नियम जैसी कोई चीज़ है तो वह इन धर्म-संकटों में हमें क्या सहायता प्रदान कर सकती है या इनके बीच में फैसला करने में कहाँ तक सहायक हो सकती है। जो वैज्ञानिक आज ब्रह्माण्ड में किसी ऐसे सर्वव्यापी नियम की बात करते हैं वे स्वयं अपने जीवन और अपने सामाजिक या राजनीतिक आचरण में किसी भी ऐसे आदर्श व्यवहार को प्रदर्शित करते दिखाई नहीं देते जो उन लोगों से भिन्न हों जिन्हें उन नियमों का पता नहीं है। वास्तव में तो वैज्ञानिक लोग अपने ही ईर्ष्या, लोभ, मोह आदि से उसी तरह ग्रस्त दिखाई देते हैं जिस तरह अन्य लोग। यही नहीं, उनका अहम् उस ब्रह्माण्डव्यापी नियम में केन्द्रित न होकर अपनी संस्कृति और समाज से ही आबद्ध दिखाई देता है। यही नहीं, यह भी समझना कठिन है कि उस नियम का ज्ञान हमारे कर्म को किस प्रकार से प्रभावित करेगा या हमें अपने धर्मसंकटों से कैसे उबारेगा। क्या करना चाहिए? इसका उत्तर इससे कैसे मिलेगा कि वस्तुस्थिति क्या है, और इससे तो बिल्कुल ही मिलने की आशा नहीं हो सकती कि अनिवार्य रूप में क्या होगा या क्या होने वाला है? मनुष्य का कर्म, जिसके संदर्भ में ही धर्म की समस्या उत्पन्न होती है, भविष्यत की निश्चितता से कुछ इस प्रकार से बंधा हुआ है कि उसको उससे अलग ही नहीं किया जा सकता। यह पूर्वमान्यता है कि मनुष्य के 'करने' से घटनाक्रम में कुछ ऐसा परिवर्तन अवश्य होगा जो अन्यथा नहीं होगा। यह ठीक है कि कभी कभी ऐसा लगता है, विशेषकर आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में, कि एक व्यक्ति के करने से कुछ घटनाओं में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। पर आंकड़ों में परिवर्तन न भी हो तो भी जो उसके कर्म से प्रभावित होने वाले आसपास के लोग होते हैं, या जो उसके नज़दीक होते हैं, उनमें तो परिवर्तन होता ही है। क्योंकि कर्म करने का अर्थ यह होता है कि हम ज़रा सा हँस कर किसी से बात करने से उसको प्रसन्न कर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

सकते हैं और अपनी बातचीत से उसकी चेतना की स्थिति में सहज आनन्द की स्थिति उत्पन्न कर सकते हैं, चाहे वह थोड़ी देर के लिए ही क्यों न हो। इसी प्रकार अपनी छोटी सी ईमानदारी से कुछ देर के लिए तो ईमानदारी का वातावरण बना ही सकते हैं, चाहे फिर समाज या राज्य में कितनी ही 'बेईमानी' क्यों न हो। और आज तो विज्ञान भी स्वयं यह कहता है कि क्षणिक से क्षणिक आकस्मिक घटना भी वस्तुस्थिति को किसी ऐसी दिशा में मोड़ सकती है जो पूरी तरह से अप्रत्याशित हो। अगर ऐसा है तो फिर क्या पता कि किसी व्यक्ति द्वारा किये हुए कर्म का समाज या राज्य के जीवन में क्या असर हो?

मनुष्य का जो अपना रचा हुआ जगत् है और उससे स्वयं जो उसके अस्तित्व से पहले विद्यमान विश्व है उन दोनों के बीच क्या सम्बन्ध है यह कहना मुश्किल है। हालांकि इतना तो सहज रूप में सब को स्वीकार ही होगा कि मनुष्य का अपना बनाया हुआ जगत् उस जगत् की सत्ता को और कुछ हद तक उसके नियमों को मानकर ही चलता है, क्योंकि यदि वह उनको नहीं माने तो वह अपने इस जगत् की रचना ही नहीं कर सकता। पर इस जगत् की रचना के अनेक आयाम् हैं। इसका एक आयाम वह है जो एक मनुष्य के अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्धों से बनता है और जिससे समाज और राज्य की रचना होती है। इसी प्रकार चूँकि मनुष्य एक स्वचेतन प्राणी है इसलिए वह अन्य प्राणियों के प्रति भी अपना उत्तरदायित्व कुछ हद तक तो मानता ही है, क्योंकि वह उनके सुख-दुःख का कारण हो सकता है। इसीलिए सब संस्कृतियों में मनुष्य पशु-पक्षी, यहाँ तक कि पेड़-पौधों से भी कैसा व्यवहार करे इसकी कुछ हद तक तो चर्चा अवश्य की गई है। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य का 'धर्म' केवल मनुष्य के प्रति ही नहीं होता, वह व्यापकतर जगत् से भी सम्बन्ध रखता है। पर जैसे ही जड़ जगत् की बात शुरू होती है यह समझना कठिन हो जाता है कि क्या उसके प्रति भी मनुष्य का कोई 'धर्म' है? और जब हम ब्रह्माण्ड की बात करते हैं तो अधिकतर वह जड़ जगत् की ही बात होती है। आज का मूलभूत विज्ञान उस भौतिकी के विज्ञान में ही समाहित है जिसे अंग्रेज़ी में फ़िज़िक्स का नाम दिया जाता है और उस विज्ञान की पूर्वमान्यता कुछ ऐसी है कि उस जड़ जगत् के नियमों के आधार पर ही सारे प्राणि जगत् को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं, समझा जा सकता है। पर यह मनुष्य के कर्तृत्व को अनदेखा करके ही हो सकता है। यही नहीं, स्वयं मनुष्य ने जिस विज्ञान को जन्म दिया है उसको भी अनदेखा करके ही यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के ज्ञान की यह प्रक्रिया उन नियमों से समझी जा सकती है जो अणु-परमाणु के आपस में व्यवहार से सम्बन्धित हैं। 'धर्म' मनुष्य के अपने जगत् से सम्बन्धित है। हालांकि उसकी चेतना में ब्रह्माण्ड भी विशेष रूप में उपस्थित होता है, और चूँकि वह अपने को उससे किसी मूलभूत रूप में सम्बन्धित पाता है इसलिए कुछ हद तक 'धर्म' का इस सहज आत्मचेतना से भी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रिश्ता है। मनुष्य के लिए यह समझ पाना या स्वीकार कर पाना कि वह ब्रह्माण्ड, जिसने उसकी सृष्टि की है, केवल जड़ नियमों से परिचालित होता है या उसमें कोई ऐसी चेतना नहीं है जो मूल्यों के प्रति उन्मुख ही नहीं है, बड़ा मुश्किल है। इसीलिए उसने ऐसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की कल्पना की है जो उसका भी स्रष्टा है और जड़ जगत् का भी, जो उसकी 'धर्म' की भावना के प्रति भी सजग है और जो उसके आचरण के भी अनुकूल है। पर आधुनिक विज्ञान तो किसी ऐसे ईश्वर को नहीं मानता और उसकी मान्यता को विज्ञान की प्रगति में बाधक भी समझता है। दूसरी ओर ईश्वर को मानने से भी इस कठिनाई का कोई हल नहीं होता। आख़िर संसार में इतना अधर्म क्यों है? यही नहीं, जो धर्म का आचरण करते हैं उनको अधिकतर न तो सफलता ही मिलती है और न सांसारिक सुख ही। भारतीय परम्परा ने धर्म के सिन्द्धांत का आविष्कार कर इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की है और कुछ अन्य धार्मिक परम्पराओं ने स्वर्ग-नरक आदि की कल्पना करके इसका हल ढूँढने की कोशिश की है। इसके अलावा यह भी कहा गया है कि ईश्वर ने मनुष्य को जब स्वतन्त्रता दे दी है, और स्वतन्त्रता के बिना 'धर्म' का कोई अर्थ भी नहीं होता, तब मनुष्य-जगत् में जो होता है उसके लिए ईश्वर को उत्तरदायी क्यों माना जाय? और फिर यह भी कहा गया है कि धर्म के आचरण के सम्बन्ध में यह क्यों माना जाय कि जिससे सफलता और सुख की प्राप्ति हो वह तो स्वयं ही 'श्रेय' है।

इन सब सवालों का असल में कोई हल नहीं है। मनुष्य की स्थिति ही ऐसी है कि वह अपने को ब्रह्माण्ड का अंग भी माने और उससे अलग भी। वह यह भी चाहे कि वह स्वयं के अनुसार हो और इस स्वतन्त्रता का उपयोग 'श्रेय' के अनुसार ही हो और यह भी चाहे कि श्रेय और प्रेय का सम्बन्ध इस प्रकार का हो कि यद्यपि वह श्रेय की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करे तो भी उसे उसी अनुपात में स्वतः प्रेय भी प्राप्त हो। और इससे भी अधिक गहराई इसकी यह है कि अधर्म की विजय न हो, धर्म की ही विजय हो। पर साधारण अनुभव इसके विपरीत दिखाई देता है और विडम्बना यह कि हालांकि अधिकांश में विजय अधर्म की ही दिखायी देती है पर न उसका मन और न उसकी बुद्धि ही इसे स्वीकार कर पाती है, क्योंकि इसको स्वीकार करके उसका मनुष्यत्व पूर्णरूपेण समाप्त हो जाता है। इस संदर्भ में विज्ञान और अध्यात्म-परम्पराओं में एक मूलभूत भेद है। वह यह कि विज्ञान ऐसा कोई आश्वासन नहीं दे सकता कि धर्म की ही विजय होगी, क्योंकि उसके लिए अधर्म-धर्म का भेद ही निरर्थक है। इसके विपरीत जगत् की सारी अध्यात्म-परम्पराएं मनुष्य को यह आश्वासन देती हैं कि अधर्म की कभी विजय नहीं होगी चाहे ऐसा अनेक बार दिखाई पड़े कि अधर्म बलवान् है और धर्म निर्बल। शायद गीता के प्रसिद्ध श्लोक का यही अर्थ रहा हो कि जगत् में जो भी परम शक्ति है वह कभी भी अधर्म की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विजय नहीं होने देती। कृष्ण का यह कहना कि —"सम्भवामि युगे-युगे" मनुष्य को यही आश्वासन देता है और मनुष्य के अन्दर बैठा हुआ जो परम सत् है वह भी ऐसा कहता प्रतीत होता है, यों चाहे उसे "यतो धर्मः ततो जयः" कभी सत्य होता नहीं दिखाई देता। पर ऐसा भी नहीं कि धर्म की विजय होती ही नहीं हो। और फिर धर्म क्या है, इसकी भी खोज उतनी ही अनन्त है जितनी सत्य और सुन्दर की। इसी में शायद मनुष्य-जीवन की सार्थकता है, क्योंकि मूल्यों का अन्वेषण ही इसके जीवन को कालक्रम में अर्थवत्ता प्रदान करता दिखाई देता है।

बी/189-ए, विश्वविद्यालय मार्ग,
बापूनगर, जयपुर 3020

---

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 40वें अधिवेशन में 'प्रमाण सम्प्लव एवं प्रमाण व्यवस्था' संगोष्ठी में प्रस्तुत।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वैदिक दर्शन और सृष्टि-प्रक्रिया

रामाश्रय राय

सृष्टि का आरम्भ किसने किया, कैसे किया, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर आदि काल से ही विचार मंथन हो रहा है। इन प्रश्नों की महत्ता इतनी भर ही नहीं है कि मानव-मन अज्ञात और अज्ञेय का रहस्य भेदन करने के लिए सर्वदा ही तत्पर रहा है और कई तरह से इस रहस्य को सुलझाने में व्यस्त रहा है। आधुनिक विज्ञान भी कई सदियों से इस रहस्यभेदन में लगा हुआ है। इस रहस्यभेदन का प्रेरणास्रोत केवल मानव की कल्पनाप्रवणता या जिज्ञासा-वृत्ति ही नहीं है। कल्पनाप्रवणता या जिज्ञासा-वृत्ति का महत्त्व तो है ही, इसके साथ ही उपयोगिता की भी इस रहस्य-भेदन की प्रक्रिया में केन्द्रस्थ भूमिका रही है। यहां उपयोगिता के दो विभिन्न निहितार्थों की चर्चा ज़रूरी है। एक तो उपयोगिता का आधुनिक निहितार्थ हैं जो अत्यन्त ही सीमित-संकुचित है। इसके अतिरिक्त उपयोगिता का एक दूसरा निहितार्थ भी है जो गम्भीर और विशाल है।

आधुनिक अर्थ में उपयोगिता का स्रोत उदारवादी जीवन-दर्शन है। ईश्वर को मृत घोषित करने या इस विश्व से उसे निष्कासित करने के परिणामस्वरूप मनुष्य का तात्त्विक रूप क्या है, इस प्रश्न का एक नया उत्तर मिला। पारम्परिक दृष्टि के अनुसार मानव-जीवन के दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हुआ करते थे : किसी महान् उद्देश्य—यथा आत्मज्ञान, सुदृढ़ नागरिकता आदि का संधान और जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की संतुष्टि। महान् उद्देश्य की सिद्धि को प्रधान और जीवन को सुदृढ़ और महाशयता से पूरित करने के लिए सांसारिक आवश्यकताओं को गर्हित या उपेक्षणीय माना जाता था। उनकी महत्ता को स्वीकारा अवश्य जाता था, क्योंकि उनकी संतुष्टि के बिना महान् उद्देश्य की सिद्धि भी असंभव है। लेकिन उनको महान् उद्देश्य की सिद्धि में सहायक मात्र माना जाता था। परन्तु जब ईश्वर को इस जगत् से निष्कासित कर दिया गया या उसे मृत घोषित कर दिया गया तो उसके साथ-साथ जीवन का महान् उद्देश्य भी निष्कासित या त्याज्य हो गया। टॉमस हॉब्स के शब्दों में, जीवन में कोई परम उद्देश्य नहीं है, मात्र सुख की खोज ही जीवन की धुरी है। और सुख का अर्थ एक इच्छा की तुष्टि के बाद दूसरी इच्छा की तुष्टि की अनवरत प्रक्रिया है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि जीवन की सामान्य आवश्यकताओं में धन, मान और शक्ति-संचय समाविष्ट हैं। और जब भौतिक इच्छाओं की तुष्टि ही मानव-जीवन का केन्द्रस्थ प्रयल बन जाती है तो इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम होते हैं। प्रथम, इच्छाओं की पूर्त्ति सुख का आधार तो है ही, इसके साथ ही विको, काण्ट, हेगल, मार्क्स प्रभृति

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दार्शनिकों ने यह भी दावा किया कि इच्छाओं की पूर्त्ति की प्रक्रिया में ही मनुष्य की आत्मनिर्मिति संभव हो पाती है, व्यक्तित्व-विकास की संभावना उजागर होती है और सभ्यता का उत्कर्ष संभव हो पाता है। परन्तु इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए प्रकृति का शोषण-दोहन आवश्यक है क्योंकि इसके बिना उत्तम जीवन की आधुनिक कल्पना साकार नहीं हो सकती। दूसरे, इस विशाल निरपेक्ष विश्व में मनुष्य निर्बल और निस्सहाय है : वह प्राकृतिक शक्तियों में हाथ-खिलौनावत् है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य प्रकृति पर विजय पाकर उत्तम जीवन की कल्पना को साकार करने में प्रयत्नशील हो।

इन्हीं दोनों अभिवृत्यात्मक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप इस विश्व के प्रति द्रो रुख अख़्तियार किये गये। जब इच्छाओं की पूर्त्ति के आधार पर ही मानव-जीवन सुखी, समृद्ध और शुभंकर हो सकता है तो यह स्पष्ट है कि इतिहास अभी अधूरा है। यह इसलिए क्योंकि यह विश्व अभी तक इस स्थिति में नहीं पहुंच पाया है कि मानव-जीवन सुखी, समृद्ध और शुभंकर हो सके। यह स्थिति अभी आनी है। यह भविष्य के गर्भ में प्रसुप्त है। इसलिए मानव-सभ्यता का स्वर्णिम युग अतीत में नहीं, भविष्य में खोया हुआ है। ईश्वर के हाथों इस विश्व का निर्माण ज़रूर हुआ होगा, परन्तु अभी यह विश्व अधूरा ही है, निर्माणाधीन ही है। और चूंकि ईश्वर कभी का अवकाश प्राप्त कर चुका है, इसलिए इस विश्व को पूर्ण बनाने और मानवीय आकांक्षाओं के अनुसार इसे गढ़ने-मढ़ने का श्रम मनुष्य के हाथों आ गया है। विश्व को पूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उन नियमों, प्रक्रियाओं का उद्वाहन किया जाय जिनके अनुसार यह विश्व चल रहा है। और चूंकि यह विश्व कारण-कार्य का अटूट सिलसिला है, इसलिए यह आवश्यक है कि विज्ञान को विकसित कर विश्व के नियामक तत्त्वों की अभिज्ञा के आधार पर समाज की प्रकृति को मानव-उद्देश्यों के संदर्भ में परिवर्तित किया जाय।

आधुनिक जीवन-दृष्टि के केन्द्र में उपयोगिता : भौतिक आवश्यकताओं की संतुष्टि से सम्बद्ध उपयोगिता : विद्यमान है। और आधुनिक विज्ञान का मुख्य प्रेरणास्रोत भी उपयोगिता का यही निहितार्थ है। आधुनिक विज्ञान की मुख्य मान्यता यह है कि प्रकृति स्वायत्त है, यह स्वयंचालित और स्वयंशासित है। प्रकृति स्वायत्त है, इसके परे या इसके पीछे कोई अन्य सत्ता नहीं, कोई ऐसी शक्ति नहीं जो इसे निर्मित, चालित-शासित करती है। इस स्थिति में इस सृष्टि का निर्माता कौन है, उसने इस सृष्टि का निर्माण क्यों और कैसे किया—ये सारे प्रश्न आधुनिक विज्ञान के लिए निरर्थक हो जाते हैं। और जब ये प्रश्न उठते ही नहीं, तो इनके उत्तर की आशा आधुनिक विज्ञान से बेकार है। और अगर हम यह आशा करें भी तो हमें हताशा ही हाथ लगेगी।

इन प्रश्नों के उत्तर पारम्परिक संस्कृतियों ने अवश्य ही ढूंढे हैं। और इस अन्वेषण की प्रक्रिया में उपयोगिता का एक दूसरा ही निहितार्थ उजागर होता है। इस उपयोगिता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

का आधार यह मान्यता है कि एक ऐसी परम परन्तु अज्ञात सत्ता है जो दृश्य जगत् से परे तो अवश्य है परन्तु वह इसका कारण, प्रतिष्ठा और संयोजक सभी है। इस मान्यता के आधार पर सृष्टि सम्बन्धी प्रश्नों की उपयोगिता दो कारणों से बढ़ जाती है। एक तो सृष्टि-निर्माण की प्रक्रिया में सृष्टि के व्यवस्थित संचालन के लिए नियामक तत्त्वों का भी सृजन होता है। इन नियामक तत्त्वों के अवगमन के आधार पर ही दृश्य जगत् की प्रकृति की, विश्व की, इनके साथ मनुष्य के सम्बन्ध की ज्ञानोपलब्धि संभव है। दूसरे, मनुष्य की आत्मा उस परम परन्तु अज्ञात सत्ता का संवेदी आसन है, वह परम सत्ता मनुष्य के अन्तरतम में अवस्थित है। उस अन्तरस्थ सत्ता की उपस्थिति को स्वीकार कर उससे साक्षात्कार के उपक्रम में ही मनुष्य का लौकिक और पारलौकिक जीवन बनता है, मांगलिक होता है। इस दृष्टि से भी इन नियामक तत्त्वों की अभिज्ञा आवश्यक है। और चूंकि इन नियामक तत्त्वों की रचना-सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया में ही होती है, सृष्टि-रचना का रहस्योद्घाटन आवश्यक है।

सृष्टि का रचयिता कौन है, सृष्टि-रचना की प्रक्रिया कैसे, कहां से प्रारंभ हुई और इसके नियामक तत्त्व क्या हैं, आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर मात्र अनुमान पर आधारित है। यह दूसरी बात है कि इस अनुमान का आधार तर्कशक्ति है या आप्त वचन। फिर भी जो इन्द्रिय-गोचर नहीं, कल्पना की उड़ान के भी जो बाहर है, उसका सुनिश्चित, यथार्थ ज्ञान दुष्कर है। इसलिए देवताओं के जन्म और सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में प्लेटो की यह मान्यता है कि इस सम्बन्ध में मात्र एक 'संभाव्यात्मक कहानी' ही संभव है। इस तर्क के अनुसार वैदिक परिप्रेक्ष्य में जिसे सृष्टि-विद्या या बृहद्देवता के अनुसार भाववृत्त कहा जाता है, एक संभाव्य कहानी ही है। और जब सभी संस्कृतियों ने अपनी अलग-अलग, अपने तरीके से संभाव्य कहानी लिखी हो, प्रचारित की हो तो प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी संभाव्य कहानियों को समतुल्य माना जाय? इन्हें समतुल्य मानने का एक प्रत्यक्ष परिणाम तो यह है कि सापेक्षवाद की पकड़ इतनी मज़बूत हो जाती है कि वह मनुष्य के बुद्धि-वैभव के लिए सांसत बन जाती है। इन संभाव्य कहानियों में अज्ञान का भिन्न-भिन्न रूप परिलक्षित हो जाता है, उसकी सृजनात्मक शक्ति का अलग-अलग संकेत मिलता है। सापेक्षवाद ही यह मान्यता है कि ये भिन्न-भिन्न रूप और संकेत सभी स्वयंसिद्ध हैं, उनमें से प्रत्येक अपने-आप में सत्य है। इस तरह वास्तविकता का, सत्य का भिन्न-भिन्न रूप और कर्त्तव्य इन संभाव्य कहानियों में प्रस्तुत किया गया है। यह भी माना जाता है कि ये सभी रूप और कर्तृत्व अलग-अलग, शायद अनमिल होते हुए भी सत्य हैं, वास्तविक हैं। इसलिए सत्य के, वास्तविकता के सभी रूप, संकेत, परिचय तुलनीय नहीं, उनमें से प्रत्येक स्वतन्त्र रूप से सत्य और विश्वसनीय है।

अगर इस तर्क को कारगर माना जाय तो प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि जब सत्य के इतने सारे रूपांकन सत्य की छाया मात्र हैं, भाषा के दर्पण में अज्ञान की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपस्थिति के भिन्न-भिन्न आभास मात्र हैं, अज्ञान स्वयं अपनी उपस्थिति से परे है, तो छाया के सहारे छाया के आधार का अनुमान करना उचित नहीं, उपयोगी भी नहीं। फिर कौन सी छाया अधिक बुद्धिसम्मत है, इसलिए विश्वसनीय भी, यह गुत्थी सुलझाना आवश्यक हो जाता है। सापेक्षवाद की मान्यता है कि सत्य का प्रत्येक रूपांकन भी सत्य है। तो क्या इन विभिन्न सत्यों, सत्य के विभिन्न रूपांकनों के परे कोई ऐसा सत्य नहीं जिसकी कसौटी पर इनकी सत्यता, विश्वसनीयता और उपादेयता को कसा जाय, परखा जाय और देख-परख कर स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाय? इसके अतिरिक्त एक और प्रश्न है। जैसाकि पहले इंगित किया गया, अज्ञान का संधान ज्ञान-सिद्ध भी है और अन्तर्दृष्टि-साध्य भी है। परन्तु प्लेटो का आग्रह है कि जिस तरह सूर्य को नंगी आंखों से देखना असंभव है। उसी तरह परम सत्ता का भी प्रत्यक्ष अवगम संभव नहीं, वह सीधे बोधगम्य नहीं है। अज्ञात के परिचय के लिए एकमात्र साधन भाषा के माध्यम से अभिव्यंजित बुद्धिसम्मत, तर्कसाधित व्याख्या है।

प्लेटो के तर्क को अगर मान लिया जाय तो सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता-सम्बन्धी जिज्ञासा की सन्तुष्टि के लिए वैदिक भाववृत्त का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। यह इसलिए क्योंकि वह भाववृत्त दार्शनिक की तर्क-बोझिल भाषा में नहीं, अपितु कविर्मनीषी की काव्यात्मक भाषा के माध्यम से स्तुतियों के रूप में दिव्य दर्शन के कारण निस्सृत उद्गारों में हुआ है। और जहां तक प्लेटो का प्रश्न है, वह कवियों को पोलिस में कोई स्थान नहीं देना चाहता, वह तो उनको सादर पोलिस की सीमा पर ले जाकर उनसे आग्रह करेगा कि वे फिर पोलिस में आने का कष्ट न करें। यह इसलिए क्योंकि उसकी दृष्टि में कवियों को सारदर्शी सामग्रिक दृष्टि प्राप्त नहीं है : यह दृष्टि केवल दार्शनिकों को ही प्राप्त है। यहां मात्र यही कहा जा सकता है कि प्लेटो दर्शन की बहुत ही संकुचित-सीमित परिभाषा करता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में, अज्ञात के अनुभव (दर्शन) को तर्कपूर्ण, बुद्धिसम्मत भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करना ही दर्शन है। जब तक अज्ञात के दर्शन नहीं होते, तर्कपूर्ण भाषा मात्र बौद्धिकता का वाहन बनने में समर्थ है। अज्ञात के दर्शन के बिना, उसकी उपस्थिति की जीवन्त अनुभूति के बिना, वास्तविकता का सत्य सिर्फ भाषा का सत्य बनकर रह जाता है। और वैदिक ऋषियों के लिए अज्ञात का संधान तर्क का नहीं, अनुभव का विषय है, अज्ञात के दर्शन तर्कजाल फैलाने से नहीं होते वरन् हृदय-चक्षु के खुलने से होते हैं। और जब हृदय-चक्षु खुल जाता है तो वाणी निर्झर बनकर काव्य का रूप लेकर प्रवहमान् हो जाती है।

वैदिक सृष्टि-विद्या की अभिव्यक्ति काव्यात्मक मिथकों और प्रतीकों के द्वारा हुई है। और जहां तक स्तुति-काव्य का सम्बन्ध है, स्वयं प्लेटो इसको अज्ञात के परिचय का सबल और सफल माध्यम मानता है। इस दृष्टि से वैदिक सृष्टि-विद्या की उपेक्षा या भर्त्सना निराधार है। वैदिक भाववृत्त की महत्ता को स्वीकार करने के पश्चात् एक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

दूसरा प्रश्न उठता है : हम इसे किस अर्थ में अन्य "संभाव्य कहानियों" की तुलना में वरणीय मान सकते हैं? इस संदर्भ में दो प्रमुख परिप्रेक्ष्यों का उल्लेख आवश्यक है। एक वह परिप्रेक्ष्य है जिसमें सृष्टि-रचना प्रमुख प्रत्यय नहीं है, मुख्य प्रत्यय-व्यवस्था की प्रतिस्थापना है। इसके विपरीत एक दूसरा परिप्रेक्ष्य है जिसका लक्ष्य सृष्टि-विषयक जिज्ञासा की तुष्टि है और जो सृष्टि-प्रक्रिया में ही व्यवस्था के प्रतिस्थापन पर ज़ोर देता है। अगर पहले परिप्रेक्ष्य का प्रतिनिधित्व पाश्चात्य, विशेषकर प्लेटो के चिन्तन द्वारा होता है तो दूसरे परिप्रेक्ष्य का यथेष्ट प्रतिबिम्बन वैदिक साहित्य में प्रभावशाली रूप में हुआ है। पहले परिप्रेक्ष्य में अखंड वास्तविकता को ज़बर्दस्ती खंडित किया गया है। इस विभाजन में ज्ञानशक्ति भूत-द्रव्य से वियुक्त अनुशासित करने का साधन बनती है। इसके विपरीत, दूसरे परिप्रेक्ष्य में यह विभाजन सर्वथा अस्वीकार्य है।

इस मौलिक भेद को स्पष्ट करने के लिए सृष्टि-विद्या-सम्बन्धी पाश्चात्य चिन्तन का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है। **ओल्ड टेस्टामेंट** के अनुसार—"ईश्वर ने पृथ्वी और स्वर्ग के निर्माण के बाद जब पृथ्वी को देखा तो वहाँ अंधकार ही अंधकार पाया। पृथ्वी वीरान और रिक्त थी, पानी के ऊपर अंधकार का साम्राज्य था। ईश्वर की सांस पानी के ऊपर चल-फिर रही थी।" इससे स्पष्ट है कि सृष्टि-रचना की प्रक्रिया में वास्तविकता का दो में विभाजन हो गया। रिक्तता के रूप में अव्यवस्था का आविर्भाव हुआ, जिस पर ईश्वर अपनी सांस के रूप में ऊपर ही ऊपर गतिमान् था। इस विभाजन के परिणामस्वरूप अव्यवस्था को व्यवस्थित विश्व में परिवर्तित करने की आवश्यकता हुई। इस दृष्टि से दृश्य जगत् अस्तित्व और विश्व में पृथक्ता का द्योतक है। अस्तित्व आध्यात्मिक चेतना की गति का द्योतक है जिसका लक्ष्य विरूप और रूप-ग्राह्यावरोधी अनान्के (अनिवार्यता) पर व्यवस्था का आरोपण करता है, परन्तु जो विश्वजनीन रूप से, अव्यय भाव से, इस विश्व का प्रतिमान है, वह स्वयं सृष्टि के कार्य में कर्मरत नहीं है। यह तत्त्व, जिसे प्लेटो फोर्म कहता है, मात्र प्रतिमान है : सृष्टि का कार्य तो डिमाइअर्ग (विश्व शिल्पी) करता है जो अनान्के द्वारा पूर्वनिर्मित अव्यवस्थित उपादानों को व्यवस्थित कर अपने उत्तरदायित्व का पालन करता है।

यहां प्लेटो की सृष्टि-निर्माण सम्बन्धी धारणाओं का विशद विवेचन संभव नहीं है और न ही वह आवश्यक है। इस सम्बन्ध में मात्र यह कहने की ज़रूरत है कि वास्तविकता के द्वि-विभाजन के कारण व्यवस्था का आधार सदा ही लड़खड़ाता रहता है। फलस्वरूप व्यवस्थापन का काम असंभव नहीं तो दुष्कर ज़रूर हो जाता है। अनान्के की मूल प्रकृति अव्यवस्था, विपथगामिता है। इस कारण अनान्के अनिष्ट, पाप, निर्ऋति का मूल स्रोत नहीं भी हो तो कम-से-कम परिसीमन के सिद्धान्त का प्रतीक तो अवश्य ही है। विश्व की संभवन (बिकमिंग) की प्रक्रिया के रूप में कल्पना की जाती है। परन्तु संभवन ही ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विश्व फोर्म के प्रतिमान पर गढ़ा जाकर भी फोर्म की पूर्णता को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ है। पूर्णत्व को

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्राप्त करना विशुद्ध फोर्म के रूप में परिवर्तित होना है, क्योंकि पूर्णता की प्राप्ति अनान्के की प्रकृति के सर्वथा विरुद्ध है। यह विवशता प्रकृति के साथ ही नहीं है, मनुष्य के साथ भी है। प्लेटो मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में यह कल्पना करता है कि स्वभाव के अनुसार मनुष्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है और एक कोटि से दूसरी कोटि में प्रवेश कर पाना संभव नहीं है। अतः प्लेटो मनुष्य की पूर्णता की कामना तो ज़रूर करता है परन्तु इसकी उपलब्धि के सारे मार्ग बन्द कर देता है। अतः आत्मा को अनुशासित कर समाज को व्यवस्थित करने का सारा भार दार्शनिक शासक पर आ जाता है।

इसी पृष्ठभूमि में वैदिक सृष्टि-विद्या की विशिष्टता का दिग्दर्शन होता है। यह विशिष्टता दो बातों से प्रकट होती है। प्रथम, वैदिक सृष्टि-विद्या में वास्तविकता का द्वि-विभाजन स्वीकार्य नहीं और न ही यह स्वीकार्य है कि सृष्टिकर्त्ता चाहे कोई भी हो, वह सृष्टि के बाहर रहकर सृष्टि की रचना और उसका संचालन करे। यह सृष्टिकर्त्ता कोई ऐसा देव नहीं है जो अपने कौशल से सृष्टि-यंत्र की रचना कर स्वयं इससे अलग-थलग रहता है। ड्यूस एक्स मेशिना (ईश्वरीय योजना) की कल्पना प्लेटो की विशिष्ट उपलब्धि है। वैदिक दृष्टि में सृष्टिकर्त्ता स्वयं वर्धमान होकर सृष्टि अथवा विश्व बनता है और वह अपनी रचना से बाहर नहीं रहता। वैदिक अनुप्रवेश का सिद्धान्त इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। और जब सृष्टिकर्त्ता विश्व के सभी पदार्थों, जीवों, जन्तुओं आदि में प्रविष्ट है, गर्भस्थ है तो पूर्णता का संधान सभी के लिए संभव है। इस संभाव्यता के आधार पर ही धर्मशासित समाज की कल्पना भी संभव है। इस ध.र्मशासित समाज में न तो निरंकुश दार्शनिक-शासक की आवश्यकता है न ही ज्ञान या सूचना के निर्माण-प्रसार पर नियंत्रण रखने की ज़रूरत है, और न ही सामाजिक क्षेत्र में साम्यवाद के लिए कोई स्थान है। स्वभाव की विभिन्नता की अनुभूति, स्वीकृति अवश्य है और स्वभावजन्य सीमाओं की अभिज्ञा भी ज़रूरी है। परन्तु यह मान्यता भी है कि इन दोनों सीमाओं को पार कर पूर्णत्व की प्राप्ति सभी के लिए संभव है। और इन्हीं मान्यताओं पर एक ऐसे समाज का निर्माण भी संभव है जो धर्मशासित होगा और प्रत्येक व्यक्ति के लिए व्यक्तित्व-विकास के उपयुक्त और प्रचुर अवसर प्रदान करेगा।

सृष्टि-विद्या पर दृष्टिपात करने से पहले दो बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम, बहुचर्चित ग्रन्थ **रिपब्लिक** में प्लेटो सुकरात द्वारा पोलिस के कवियों के निष्कासन के प्रस्ताव का अनुमोदन करता है। प्लेटो की दृष्टि में पोलिस से कवियों का निष्कासन इसलिए आवश्यक है क्योंकि सभी काव्य प्रत्ययात्मक यथार्थ की संवेदगम्य असम्यक् छायाओं की असम्यक् प्रतिच्छायाएं रचकर श्रोताओं की मति भ्रष्ट करता है। इस तर्क में गहरे न जाकर सिर्फ यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्लेटो की दृष्टि में राज्य विविधताओं का समाहार है। इस कारण स्वार्थ की भी विविधता होती है और

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यह कोई आवश्यक नहीं कि इन स्वार्थों में सामंजस्य हो, सुसंगति हो, सौहार्द हो। इसलिए राज्य-व्यवस्था की सुदृढ़ता और हितकारिता के लिए राजनैतिक एकात्मता का तत्त्व आवश्यक है। राजनैतिक एकात्मकता उस पोलिस के लिए, जिसमें नागरिकों की सिर्फ सामान्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति के साथ आराम, भोग-विलास के साधनों को मुहय्या करना आवश्यक है, और भी अनिवार्य है। वह इसलिए क्योंकि तब लिप्सा की प्रबलता के कारण राज्य का विस्तार, बड़ी सेना आदि का प्रबन्ध आवश्यक हो जाता है। अतः भोग-विलास की सामग्रियों के समायोजन के फलस्वरूप राज्य बहुसंख्यक असंयमी, लालची लोगों की भीड़ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। निस्सीम वासनाओं के समान राज्य के विस्तार की संभावना भी असीम और प्रवल हो जाती है। ऐसे राज्य में राजनैतिक एकात्मता का अभाव होता है और बुद्धिसम्मत शासक की जगह तकनीकी विशेषज्ञता का बोलबाला हो जाता है। ऐसी राजनैतिक व्यवस्था में राज्य सदा ही अति कार्य-व्यस्तता से सदा ही ज्वराक्रान्त जैसा रहता है।

इस परिप्रेक्ष्य में समाज के विभिन्न वर्गों और तत्त्वों को किस न्यायनिष्ठ नियामक सिद्धान्त के आधार पर व्यवस्थित किया जाय और एक-दूसरे से उन्हें सम्बद्ध किया जाय, यह एक अहम प्रश्न बन जाता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए प्लेटो गंभीर ज्ञान और व्यापक ज्ञान में अन्तर करता है। व्यापक ज्ञान से उसका मतलब उस ज्ञान से है जो बहुत सारी चीज़ों की जानकारी पर आश्रित है। इसके विपरीत, गम्भीर ज्ञान वह है जिसके आधार पर विविधता को एकात्मता के सूत्र में पिरोकर विभिन्न वर्गों, वस्तुओं आदि में शुभंकर और मांगलिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। प्लेटो की दृष्टि में कवि व्यापक ज्ञान का प्रतीक है। इसके विपरीत दार्शनिक शासक उस नियामक सिद्धान्त को पहचानने में समर्थ है जो विविधता को एकात्मता में वांधने का आधार बनता है। इसके अतिरिक्त, जिस हद तक कवि व्यापक ज्ञान का संवाहक है उस हद तक उसे आभास (प्रतीति) मात्र का अवगम है। परन्तु छाया का अवगम सदा परिवर्तनीय विविध मत-मतान्तरों की अभिज्ञा है, सत्य की नहीं, शाश्वत लोकोत्तर सत्ता का विश्वसनीय ज्ञान नहीं। और चूंकि दार्शनिक इस लोकोत्तर सत्ता के अवगम के प्रति प्रतिश्रुत है, उसका ज्ञान अपरिवर्तनीय और इसलिए वंचना-मुक्त, विश्वसनीय और श्रद्धेय है।

अगर प्लेटो का तर्क समीचीन है तो किस आधार पर वैदिक कवियों के हार्दिक उद्गारों के समाहार के रूप में वेद का मिथक काव्य ब्रह्म-ज्ञान और खासकर सृष्टि-विद्या का विश्वसनीय ज्ञापक हो सकता है? प्लेटो द्वारा कवियों की अवमानना का आधार कवि-कर्म की सीमा ही नहीं है। इसके अतिरिक्त प्लेटो यह भी मानता है कि जब हम सूर्य को सीधे नहीं देख सकते तो फिर उसे कालिमाच्छादित शीशे के द्वारा ही देखना उचित है। परन्तु प्लेटो इससे आगे बढ़कर यह भी तर्क देता है कि जहां तक अज्ञान के अवगम का प्रश्न है, वह तर्कपूर्ण बौद्धिकता रूपी काले शीशे के द्वारा ही

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

संभव है, और कोई चारा नहीं है। परन्तु कठिनाई यह है कि स्वयं प्लेटो के अनुसार ज्ञान-निर्मिति की चार प्रमुख विद्याओं—नामकरण, परिभाषात्मक या अवधारणात्मक स्थापना, रूपांकन, और इन सभी के द्वारा उपलब्ध ज्ञान में से कोई एक या इन सभी का मिश्रण ज्ञानोपलब्धि का विश्वसनीय आधार नहीं बन सकता। इससे यह स्पष्ट है कि तर्कसाध्य बौद्धिकता इतनी निर्बल होती है कि उसके सहारे अज्ञात का विश्वसनीय परिचय संभव नहीं होता।

क्या इसका यह तात्पर्य है कि उस अज्ञात का परिचय, जो हमारे अन्तरतम में प्रतिष्ठित होकर हमारे अस्तित्व को सार्थक बनाता है, असंभव है? क्या ऐसी कोई अन्य विधा नहीं जिसके द्वारा अज्ञात का संधान लग सके, उसका परिचय मिल सके? यहां यह कहना आवश्यक है कि भारतीय चिन्तनधारा में अज्ञात के परिचय के लिए बुद्धि नहीं बोध विश्वसनीय माध्यम है। इसके लिए चेतना का द्युतिपूर्ण होना आवश्यक है, नकि तार्किक सम्प्रत्ययों की खींचतान। इस बोध के लिए सूचनाओं के अम्बार की नहीं अपितु आत्मिक रूपान्तरण की आवश्यकता है। ऋग्वेद में देवताओं की दिव्य प्रकृति को उद्भासित करने के लिए कवि, ऋषि, विप्र आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है। ये विशेषण उनके लिए भी प्रयुक्त हुए हैं जो दिव्य दृष्टि से विभूषित होते हैं, जिन्हें हृदय-चक्षु प्राप्त है जिसके सहारे उन्हें अज्ञात का स्वरूप ज्ञात हो जाता है। वैदिक परिप्रेक्ष्य में ब्रह्म-ज्ञान सत्यान्वेषण के मार्ग पर आत्मा की ऐसी यात्रा है जिसके अन्त में उस लोकातीत सत्य के आलोक की झांकी मिलती है जिससे अस्तित्व उद्भासित हो उठता है और समग्रता का गम्भीर ज्ञान उपलब्ध होता है। इसी के आधार पर वैदिक ऋषि 'कविर्मनीषी' कहलाते हैं और गुह्य सत्य का प्रत्यक्षीकरण करने में समर्थ होते हैं। वह गम्भीर चेतस (ऋ. वे. VIII-8.2) होकर अज्ञात का परिचय प्राप्त करता है और फिर वह सत्यश्रुतयः कवयः (ऋ. वे. VI 49.6 ; V 57.8, V 58.8) के नाम से जाना जाता है। और जैसाकि 'कवि' शब्द से स्पष्ट है, कवि का कर्म निर्माण करना है, अर्थात् जो अनवगम्य है उसको कवि परिस्फुट करता है और अपनी निर्माण-क्रिया के विषय को वह स्वयं निर्धारित करता है। कवि तब ऋषि कहलाता है जब वह सृजनात्मक ज्ञान के साथ-साथ यह भी अनुभव कर पाता है कि सृष्टि की विविधता के आधार में दिव्य एकात्मता है। ऋषियों के समक्ष छन्दस प्रकट होता है। (ऋ. वे. X 130.5, X 71.3) और उसे यह अनुभव होता है कि विश्व, जो सृष्टि की प्रक्रिया में ब्रह्म का विविध रूप बनकर दृष्टिगोचर होता है (एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध . .) (ऋ. VIII 58.2) दिव्य एकात्मता का बहुविध प्रतीक है। दिव्य दृष्टि से विभूषित कविर्मनीषी स्तुतिगान के द्वारा मिथकों और प्रतीकों की भाषा में अज्ञात का परिचय पाता है, देता है।

यह सही है कि अज्ञात का परिचय चाहे जिस रूप में मिले, इस परिचय की अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द ही है। शब्द चाहे जितना समर्थ हो, इसके द्वारा संकेतित

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वास्तविकता अनाम और गुमनाम ही रहती है। वह अज्ञात सत्ता, जिसकी झांकी शब्दों में मिलती है, शब्दों से परे है, इस झांकी से भी अनिरूप्य है, इस झांकी में अज्ञात की क्षीण उपस्थिति भर है, यह झांकी उसका पूरा परिचय देने में असमर्थ है। इसलिए अज्ञात के परिचय के लिए प्रयुक्त भाषा की समस्या यह है कि इसके द्वारा ऐसे गुह्य और अनिर्वचनीय अनुभव की अभिव्यक्ति का प्रयास किया जाता है जो भाषा की सीमा में बँध नहीं सकता। अतः अज्ञात के परिचय के संदर्भ में एक विडम्बना की रचना होती है : अज्ञात उपस्थित तो अवश्य है, परन्तु वह अपनी उपस्थिति से परे भी है। इसलिए दीर्घतमा औचथ्य ऋषि को यह कहने में कोई हिचक नहीं कि "जिसने इसे बनाया, वह भी इसे नहीं जानता है और जिसने इसे देखा है उससे भी यह छिपा है।" ऋ. वे. 1/164.32 इसलिए ऋषियों की तथाकथित देव-स्तुतियों में मिथकों और प्रतीकों का प्रचुर प्रयोग अकारण नहीं। मुख्य बात यह है कि अज्ञात के परिचय की अभिव्यक्ति का चाहे जो भी माध्यम हो, उसमें इतनी सामर्थ्य होनी ही चाहिए कि वह मानस-पटल पर उसकी असली छवि अंकित कर सके। और यह कहने की ज़रूरत नहीं कि मिथकों और प्रतीकों में भी इतनी सामर्थ्य होती है कि वे अज्ञात की उपस्थिति का संकेत कर सकें। अतः पारम्परिक भारतीय चिन्तन में यह मुख्य प्रश्न नहीं कि अज्ञात का तार्किक प्रतिपादन कैसे हो? मुख्य प्रश्न तो यह है कि अज्ञात के परिचय का चाहे जो भी माध्यम चुना जाय, उसमें इतनी सामर्थ्य हो कि वह उस वास्तविकता का साक्षात्कार करा सके जिसकी उपस्थिति के अनुभव के कारण कविर्मनीषियों में आद्य अन्तर्दृष्टि का आविर्भाव हुआ था। यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि वैदिक कवियों द्वारा प्रयुक्त मिथकों और प्रतीकों में इतनी सामर्थ्य है कि उनके द्वारा परम सत् का साक्षात्कार, अज्ञात का परिचय संभव हो जाता है।

वेदों में जिन मिथकों का प्रयोग हुआ है वे ऐसे मिथक नहीं जिनका अभिधार्थ किसी गौरवपूर्ण आदिकाल की संध्या के धुंधलके में विलीन हो जाता है और न ही वे किसी ऐसी दुनियां में खो ज़ाते हैं जहां इनके दुर्बोध अर्थ एक अनजान सत्य की तरह आत्मा को अभिभूत कर देते हैं। ये ऐसे मिथक हैं जो अज्ञात के वैदिक अनुभव के अन्तराल से निकलकर आत्मा को आत्मपरिचय के लिए बाध्य करते हैं, इनके द्वारा ऐसे सत्य का उद्घाटन होता है जिसे आत्मा विश्वसनीय और शुभ मानती है। वैदिक मिथकों, प्रतीकों की कोई अपनी अलग दुनिया नहीं है, वे तो अज्ञात का स्पर्श पाकर आत्मा की आत्मपरिभाषा और आत्मपरिचय के वैश्विक प्रक्षेपण के सटीक प्रतीक बन जाते हैं। इन मिथकों और प्रतीकों के द्वारा ऐसे काव्य की रचना नहीं हुई है जो मन-बहलाव का साधन बनता है, इनका प्रयोग ऐसे उद्गारों में होता है जो आत्मा के अज्ञात से सम्पृक्त होने के उपलक्ष में स्वतःस्फूर्त होते हैं। और दिलचस्प बात तो यह है कि स्वयं प्लेटो देवस्तुतियों को काव्य का ऐसा रूप मानता है जो आलोचनातीत है। देवस्तुतियों में आत्मविरक्ति का खतरा नहीं होता जो काव्य के जादुई प्रभाव से

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पैदा होता है। स्तुतिगायक स्वयं अपने को, और जिसकी उपस्थिति में स्तुति की जा रही है उसको (और एक महत्त्वपूर्ण अर्थ में उसको भी जिसकी स्तुति की जा रही है) सम्बोधित करता है। वह स्तुति के द्वारा ऐसे विषय की चर्चा करता है जो सभी को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें धर्म के सह-सम्पादन का उत्तरदायित्व सौंपता है। वैदिक स्तुतियों में इसी सह-धर्म का प्रतिबिम्बन हुआ है और अज्ञात, मनुष्य, विश्व और समाज के बीच आद्य सामुदायिकता की स्थापना हुई है।

दूसरे, यह तो स्वीकार किया जाता है कि वेदों में भी सृष्टि की संभाव्य कहानी कही गई है परन्तु इस कहानी के उपयुक्त विवेचन में कई अड़चनें हैं। इन अड़चनों की वजह से इस कहानी में अन्तर्भूत अन्तर्दृष्टि और वास्तविकता की अनोखी पकड़ को अनदेखा किया गया है। वैदिक भाव-वृत्त की इसलिए उपेक्षा की जाती रही है क्योंकि इसमें सृष्टि-प्रक्रिया का ऋजु विवेचन नहीं हुआ है, या फिर ऐसा कहा जाता है कि यह कहानी सुव्यवस्थित नहीं है, इसमें सुसंगति का अभाव है। एक वैदिक भाष्यकार ने तो यहां तक कह डाला है कि अन्य चीज़ों की तरह सृष्टि-विद्या भी भारत में आर्यों के साथ बाहर से आई और ऋषियों की स्वभाव-विशेषता और स्थिति-भिन्नता के कारण यह विद्या विभिन्न अवधारणाओं में विभक्त होकर खंडित हो गई। वही भाष्यकार यह भी कहता है कि इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न धारणओं का आधार सत्य नहीं रस, अर्थात् भावना है। अतः वैदिक सृष्टि-विद्या में सामंजस्य और सुसंगति की खोज बेकार है। अगर यह मान भी लिया जाय कि सृष्टिकर्त्ता कोई प्रबुद्ध सत्ता है तो भी सृष्टि-रचना की प्रक्रिया के विभिन्न और अनमेल विवरण मिलते हैं। वहुतों का तो यह मानना है कि ऋग्वेद के सूत्रों में क्रमिक विकास परिलक्षित होता है जिसके तीन भिन्न चरण हैं। प्रथम चरण में सृष्टि के मूल कारक के रूप में किसी भौतिक तत्त्व : जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु : आदि की कल्पना की गई है। दूसरे चरण में किसी अभौतिक तत्त्व, यथा अव्यवस्था, काल, काम, असत आदि को सृष्टि का कारक माना गया है। और अन्त में किसी दिव्य शक्ति यथा प्रजापति, ब्रह्मन्, विश्वकर्मन् आदि को सृष्टिकर्त्ता माना गया है।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि वैदिक संभाव्यात्मक कहानी में न तो क्रमिक विकास का आभास है और न संसुगति का अभाव है। कई कारणों से, जिनमें वेदों की परोक्ष भाषा, प्रतीकों की प्रगाढ़ता और प्रचुरता आदि सम्मिलित हैं, ऐसे भाष्यकार वैदिक भाषा के आवरण को चीर कर इसके मर्म तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं, या ऐसा करने में उन्होंने कोई दिचलस्पी नहीं दिखाई है। वैसे वेदों में स्पष्ट रूप से यह स्वीकृति है कि "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"। फिर भी वेदों पर बहुदेववाद का लांछन लगाकर इसे आदिकालीन प्रथम धार्मिक ग्रन्थ माना जाता है। लेकिन प्रतीकों के परदे के पीछे, स्तुतियों के आवरण के नीचे वेदों में एक ऐसा भव्य विश्वदर्शन है जो विश्व और विश्वकर्मन् में कोई भेद नहीं देखता। चूंकि सृष्टि की संभाव्य कहानी

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की कथावस्तु अज्ञात की रहस्यमयता है इसलिए इस कहानी के मूल में एक संप्रश्न है जो अज्ञात और उसकी रहस्यमयी सृजनात्मकता के गुह्य या बौद्धिक अवगम का प्रस्थान-बिन्दु है। यह संप्रश्न है : "इस विश्व में समग्र सत्य को कौन जानता है? इस विश्व का जन्म कैसे हुआ यह कौन कह सकता है? सृष्टि-रचना के क्रम में देवताओं का आविर्भाव बहुत बाद में हुआ। कहां से यह विश्व आया, किसने इसकी रचना की? किसको इसका प्रत्यक्ष ज्ञान है? (ऋ. वे. 129.6) यह प्रश्न कई तरह से पूछा गया है। (द्रष्टव्य ऋ. वे. X 82.5, 1.164.40, X 82.5)

यह प्रश्न मात्र पहेली बनकर नहीं रह जाता। सृष्टि-कर्म के मूल में अनारम्भण की, अचल अज्ञात की उपस्थिति की अनुभूति है, जो इस विश्व का आरंभण बनकर विविध रूपों में दृष्टिगोचर होता है। (द्रष्टव्य ऋ. वे, 1.116.5) सारी सृष्टि को वन मानकर यह जिज्ञासा होती है कि यह कैसा वन है, इसका रचयिता कौन है और वे वृक्ष कौन से हैं जिनसे सृष्टिकर्त्ता ने स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया है? (ऋ. वे. 81.4) इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए यह आग्रह भी है कि सुधीजन अपने अंतरतम का मंथन कर इस प्रश्न का उत्तर ढूंढें, क्योंकि यह उत्तर बाहर नहीं मनुष्य के अंतरस्थ है। और इस प्रश्न का उत्तर है : ब्रह्म ही वह वन है, वही वह वृक्ष-समुदाय भी है जिसको लेकर स्वर्ग और पृथ्वी की रचना हुई। ऋषियों ने अपनी धी से यह जाना कि ब्रह्म ही इस विश्व का आरम्भण और आलम्बन दोनों है। (**तैत्तिरीय ब्राह्मण** II. 8.9.6)

परन्तु 'ब्रह्म' का अर्थ क्या है? 'ब्रह्म' एक ऐसा शब्द है जिसका अर्थ अनुगम भावेन नियंत्रित होता है : अर्थात् यह संदर्भ-सापेक्ष शब्द है जिसका अर्थ स्थिति के अनुसार बदला करता है। इस परिवर्तनशीलता के बावजूद इतना तो स्पष्ट है कि 'ब्रह्म' का निहितार्थ एक ऐसी संभाव्यता और प्रभविष्णुता है जो सक्रिय होने पर एक खास रूप धारण करती है। बृः धातु से बना ब्रह्म शब्द विकास, वृद्धि, उद्भव, भव आदि का परिचायक है। सदाशिव अम्बादास डांगे ने 'ब्रह्म' शब्द के विभिन्न निहितार्थों को चार वर्गों में विभाजित किया है : (1) ब्रह्म एक प्रकार की अभिव्यंजना है (2) जो काव्य में या मंत्र योग या किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त वस्तु के रूप में प्रत्यक्ष होती है, और (3) इसका सम्बन्ध धार्मिक कर्म से है, तथा (4) यह विश्व भर में रस के रूप में अन्तर्व्याप्त है। भिन्नार्थक होने के कारण ही यह संभव हो सका है कि विभिन्न वेद-विदों ने इसे भिन्न-भिन्न अर्थों में देखा है। जहां रॉथ और बोतालेंक ब्रह्म को दिव्य शक्ति के रूप में अर्थान्वित करते हैं वहां थीमे ने इसका अर्थ कविकर्म में मन के अन्दर उठे भावों को शाब्दिक रूप देने भर तक सीमित रखा है। परन्तु 'ब्रह्म' शब्द के भौतिक कर्मकाण्डीय और काव्यात्मक निर्देशों के अतिरिक्त आध्यात्मिक निर्देश भी हैं। वैकरनागेल और कुछ हद तक हिलेब्रांण्ट की दृष्टि में ब्रह्म एक ऐसी शक्ति है जो सारे ब्रह्माण्ड में फैली है और अभिव्यक्ति का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आग्रह करती है। ब्रह्म एक ऐसी संभाव्यता है जो संभवन के रूप में प्रत्यक्ष होती है, बहुतों ने इसे रहस्यमयी, ऐन्द्रजालिक सत्ता या शक्ति माना है जिससे सारा ब्रह्माण्ड भरा है। परन्तु यह ऐसा रस नहीं जो अन्य प्रेरित हो, जैसाकि पिश्चल, स्ट्रॉस प्रभृत्ति की मान्यता है। और न ही यह ऐसा रस है जो जादू-टोना आदि के प्रयोग से मूर्त्त रूप धारण करता है।

इन सभी निर्देशों से पृथक् करने के पश्चात् 'ब्रह्म' का स्पष्ट अर्थ, गोंडा की दृष्टि में, एक ऐसी बृहत् आंतरिक आध्यात्मिक शक्ति है जो अभिव्यक्ति की अपेक्षा करती है। यास्क के मतानुसार ब्रह्म एक ऐसी शक्ति है जो चारों ओर वर्धमान होने में चेष्टारत रहती है। अतः ब्रह्म का अर्थ संभाव्यता और चलायमान होने की, स्थान परिवर्तन करने की, रूपान्तरित होने की अन्तर्वृत्ति है। इस अन्तर्वृत्ति का एक दूसरा धर्म है : यह दूसरों को भी गतिमान् करती है। इसलिए ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग मात्र विकास के अर्थ में नहीं हुआ है (ऋ. वे. I.117.11, I.124.13) इसका प्रयोग दूसरों को गतिमान्, उत्प्रेरित करने के अर्थ में भी हुआ है (ऋ. वे. V.40.8)। ऋग्वेद VI.5.2 और VII 103.8 में 'ब्रह्म' शब्द का एक दूसरा आयाम भी प्रस्तुत होता है। जब कृ धातु से इसकी व्युत्पत्ति की जाती है तो ब्रह्म का अर्थ कर्मरत होना भी है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म कोई प्रसुप्त या निष्क्रिय शक्ति नहीं है। जब किसी कारणवश इसमें क्षोभ उत्पन्न होता है तो यह शक्ति क्रियाशील होकर नाना रूप धारण करती है। इस परिप्रेक्ष्य में ब्रह्म वह शक्ति (ऊर्जा) है जो क्षुभित होने पर वर्धमान होने लगती है और फिर विवर्त या रूपान्तरण के द्वारा इद सर्वं या विश्व के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

ब्रह्म का यह विवर्त या रूपान्तरण यादृच्छिक या बेतरतीब नहीं है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो सुशासित, नियन्त्रित और नियमानुकूल है। इसलिए ब्रह्म के विश्व में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में वेद और यज्ञ की केन्द्रस्थ भूमिका है। अतः वैदिक भाव-वृत्त के विवेचन-विश्लेषण में तीन मुख्य प्रतीकों ब्रह्म, यज्ञ और विश्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विश्व का मूल कारण ब्रह्म है। ब्रह्म के विश्व-रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया को कई तरह से प्रस्तुत किया गया है। एक विवरण में यह रूपान्तरण 'मूल के तूल' के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ब्रह्म मूल की संज्ञा है और ब्रह्म का तूल 'विश्व' नाम से जाना जाता है। इस तरह ब्रह्म गति का संकेतक ही नहीं, वह कर्त्ता के रूप में भी प्रत्यक्ष होता है। अथवा जब ब्रह्म की व्युत्पत्ति भृ धातु से होती है तब ब्रह्म का अर्थ विश्व का आलम्बन या अधिष्ठान भी होता है। अतः ब्रह्म अनारम्भ, आरम्भण और अधिष्ठान तीनों ही है। इस तरह ब्रह्म जगदोत्पत्ति का आदि करण ही नहीं है, इसका अधिष्ठान भी है। अतः ब्रह्म ही अनारंभण, आरम्भण और अधिष्ठान के रूप में एक से बहुधा बनता रहता है। विश्व ब्रह्म का विवर्त तो है परन्तु इससे ब्रह्म का क्षय नहीं होता, वह पूर्ण ही बना रहता है। (अ. वे. X.8.29)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

जैसाकि पहले इंगित किया गया, एक के अनेक बनने की प्रक्रिया का नाम यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ मात्र पूजा-उपसना या धार्मिक कर्म ही नहीं, इसका गम्भीर अर्थ रूपान्तरण है। इस रूपान्तरण में बहुत सारे तत्त्व जब मिलते हैं तो उनके मिलने से उन सभी में परिवर्तन होता है और फिर एक नया तत्त्व पैदा होता है। इन तत्त्वों में कुछ ऐसे आन्तर सम्बन्ध होते हैं जो विभिन्न तत्त्वों को एक-जुट कर उन्हें किसी अन्य तत्त्व में बदल देते हैं। यज्ञ की इस गुणधर्मिता के कारण ही इसे "भुवनस्य नाभिः" (ऋ. वे. 1.164.35) कहा गया है। वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यज्ञ का निहितार्थ सृष्टि के विभिन्न स्तरों पर सृजनात्मक शक्ति की अनवरत रहस्यमय क्रीड़ा है। जैविक स्तर पर नित नये जीवन की उत्पत्ति इस यज्ञ द्वारा संभव होती है। इस उत्पत्ति में अग्नि और सोम का मिथुन मूल कारण है। और जब कभी भी यह रहस्यमय शक्ति सृजनात्मक क्रीड़ा में तल्लीन होती है तो विश्व के केन्द्र का निर्माण होता है। यह केन्द्र है यज्ञ। इस यज्ञ में 'तदेकम्' अपनी बलि चढ़ाकर 'इदम् सर्वम्' की सृष्टि करता है। सृष्टि प्रजापति अथवा परमदेव की महिमा है। प्रजापति का महिमा के रूप में वर्धमान होना ही यज्ञ है जो अमृतस्य नाभिः बनकर सृष्टि-रचना की प्रक्रिया को निर्धारित-अनुशासित करता है।

एक का यज्ञ के द्वारा अनेक में परिवर्तित होना ही वैदिक भाव-वृत्त की संभाव्य कहानी है। इस कहानी का प्रधान नायक ब्रह्म 'तदेकम्' है जो अपनी सर्वभूतात्मता में अव्यक्त है, अभी आत्मन्वी नहीं हो पाया है। वह अविभेदीकृत है, अप्रत्यक्ष है। सृष्टि के उद्‌भव के पूर्व, एक के अनेक होने के पहले, यह न तो सृष्टिकर्त्ता होता है और न ही परमात्मा, जिससे विश्व बहुत बाद में परिचित होता है, वह आद्य परमशक्ति आत्म-वलि के बाद ही आत्म-चेतना विकसित कर सृष्टि-रचना में रत होती है। तात्पर्य यह कि प्लेटो की कल्पना के विश्व-शिल्पी (डिमाईअर्ग) के विपरीत वह स्वयं वर्धमान होकर रूपान्तरित होता है और विश्व के रूप में प्रकट् होता है। प्रकट होने से पहले वह अज्ञात, अप्रकेत की स्थिति में रहता है। इस स्थिति में वह मात्र संभाव्यता है, अनन्त रूपों के बीज के रूप में, संभावनाओं के समुद्र के तौर पर विद्यमान रहता है। इन संभावनाओं का प्रत्यक्षीकरण यज्ञ के माध्यम से होता रहता है। इस प्रत्यक्षीकरण में एक और अनेक के बीच द्वैधीभाव नहीं होता, दोनों में एकात्मता बनी रहती है (विश्वम् एकम् ऋ. वे. III 54.8) और इसीलिए विश्व सत्यम् भी है (ऋ. वे. II 24.12)। विश्व 'विश्वं एकम्' के साथ-साथ 'विश्वं सत्यम्' भी है, इसका कारण यह है कि अज्ञात तत्त्व विश्व का गर्भस्थल भी है (ऋ. वे. X 121.7) अज्ञात और विश्व के तादात्म्य की अभिव्यक्ति के लिए यह भी कहा जाता है कि ब्रह्म में विश्व अवस्थित है। जिस तरह चक्र की नाभि में पहिया और नेमि होते हैं उसी तरह अज के एक पाद में सारे देव समाए रहते हैं, उनके साथ साथ विश्व के सारे प्राणी भी इसी नाभि में समाए रहते हैं। (ऋ. वे. X 82.6)

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

निस्सन्देह एक अनेक रूप धारण करता है, परन्तु वह इन सभी रूपों से वियुक्त नहीं होता, और न ही विश्व में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया में खंडित या विभाजित ही होता है। लेकिन प्रश्न यह है कि इस रूपान्तरण का प्रतिमान क्या है? या दूसरे शब्दों में, ब्रह्म के विश्व में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया का क्या आधार है? यहां यह बताना आवश्यक है कि वैदिक सृष्टि-विद्या प्लेटो की कहानी के अनुरूप अनान्के और विश्वशिल्पी की अलग-अलग स्वायत्त अवस्थिति की कल्पना नहीं है, और न ही यह कल्पना है कि अनान्के द्वारा विरचित अव्यवस्थित तत्त्वों को व्यवस्थित कर विश्व-शिल्पी अव्यवस्था की स्थिति को व्यवस्थित विश्व में परिवर्तित कर देता है। प्लेटो की कल्पना के विपरीत सृष्टि की वैदिक संभाव्य कहानी में एक समग्र वास्तविकता की कहानी है। जैसाकि पहले इंगित किया गया, विश्व ब्रह्म का विवर्त है, मूल का तूल है। और जब ब्रह्म और विश्व में कोई तात्त्विक भेद नहीं तो यह स्पष्ट है कि वैदिक भाव-वृत्त प्लेटो की संभाव्य कहानी से दो बातों में बहुत ही भिन्न है। प्रथम, प्लेटो के अनुसार किसी भी शिल्पी की रचना तभी अच्छी होगी जब रचना का कोई अपरिवर्तनीय प्रतिमान हो। और जो अपरिवर्तनीय है वह सिर्फ तर्क-सिद्ध बौद्धिकता के द्वारा अवगमनीय है (**टाइमियस** 29 ए) और तर्क-सिद्ध बुद्धि और अवगम द्वारा ग्राह्य तत्त्व फोर्म है। अर्थात् फोर्म वह प्रत्यय है जिसे मानस शरीर से सम्बद्ध सारी सीमाओं को पार कर विशुद्ध भाव में समझ सकने में समर्थ होता है। परन्तु गहरे विश्लेषण के बाद यह स्पष्ट होता है कि तार्किक रूप से फोर्म गण या वर्ग के समरूप है जिसकी कई उपजातियां होती हैं। इसके विपरीत, वैदिक परिप्रेक्ष्य तर्कसाधित बौद्धिकता से ऊपर उठकर साधना-सिद्ध अन्तर्दृष्टि के आधार पर उस अज्ञात के विवेचन का प्रयास करता है। अन्टोनियो टी. डी. निकोलस के अनुसार, साधना-सिद्ध अन्तर्दृष्टि बुद्धि-व्यापार के सारे नियंत्रणों से शासित होकर भी उनसे परे जाने का प्रयत्न करती है और इस मांग को नकारती है कि मनुष्य के अस्तित्व का परमाधार सैद्धान्तिक है। दूसरे, अगर अव्यवस्था और नश्वरता पहले से विद्यमान हैं तो गाडामर के शब्दों में, यह स्पष्ट है कि सृष्टि के आदि में किसी प्रतिमान की आवश्यकता नहीं। प्रतिमान की आवश्यकता तब होती है जब अनान्के द्वारा रचित अर्द्धपूर्ण अव्यवस्थित तत्त्वों को व्यवस्थित करने का काम विश्व-शिल्पी प्रारम्भ करता है। इसके विपरीत, वैदिक परिप्रेक्ष्य में ब्रह्म : सृष्टि-रचना में व्यस्त ब्रह्म : सृष्टि का प्रतिमान स्वयं आप ही बनता है।

और प्रतिमान रूप में ब्रह्म का आत्मज्ञान ही सृष्टि-रचना का प्रारूप प्रस्तुत करता है। इस अर्थ में ब्रह्म और उसका आत्मज्ञान दोनों में तादात्म्य है, वे एक-दूसरे के पर्याय हैं। अगर ब्रह्म ही सत्य है तो वह विशुद्ध चेतना (चित्) भी है और चूंकि ब्रह्म अपरिमेय और अनन्त है, इसलिए वह विशुद्ध आनन्द या भूमा है। **बृहदारण्यक उपनिषद्** (1.4.10) के अनुसार, "यह (आत्मा) सचमुच ही आदि ब्रह्म था। इसे यह

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अभिज्ञा थी कि "मैं ब्रह्म हूं। इसलिए यह इदं सर्वम् बना।" इस संदर्भ में दो बातों पर लक्ष्य करना आवश्यक है। एक, परम सत्ता की आत्म-चेतना या उसका आत्म-ज्ञान सृष्टि-रचना में एक प्रमुख तत्त्व है। दूसरे, यह आत्मज्ञान गति या क्रिया तत्त्व में परिवर्तित होकर इदं सर्वम् में रूपान्तरित होता है। इस रूपान्तरण में संभवन का प्रतिमान स्वयं वह अज्ञात परम सत्ता ही है। संभवन की प्रक्रिया परम सत्ता के रूपान्तरण की प्रक्रिया है जिसमें अस्ति और ज्ञान दोनों ही एकरूप हैं। और चूंकि अस्ति और ज्ञान में समरूपता है, स्वयं ब्रह्म ही आद्य आरंभण है और विश्व का प्रतिमान भी। **ऋग्वेद** (VI 47.18) उस इन्द्र की चर्चा करता है जो विश्व का प्रारूप है और विविध रूप धारण करता है—रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव। **ऋग्वेद** (I 52.13) में भी इन्द्र को प्रतिमानम् पृथिव्याः कहा गया है। इस तरह त्वष्टा के रूप में ब्रह्म स्वयं ही अग्रियम् विश्वरूपं है। (ऋ. वे. 13.10)

स्पष्ट है कि ब्रह्म और वेद (ज्ञान) में पूर्ण तादात्म्य है। सृष्टिकर्त्ता सिर्फ आदि रूप ही नहीं, आद्य प्रतिमान भी है। इसलिए सृष्टिकर्त्ता सारे ज्ञान का स्रोत भी है : वह एकीभूत प्रज्ञानघन है (**माण्डूक्य उपनिषद्** 5), कृत्स्न प्रज्ञानघन है (**ब्रहदारण्यक उपनिषद्** IV V 13) अतः अग्नि के रूप में सृष्टिकर्त्ता अपने अवगम के आधार पर सर्वज्ञ है : विश्वं स वेद वरुणो यथा धीया (ऋ. वे. X 11.1), प्रज्ञानघन होने के कारण ही इन्द्र यह घोषणा कर सकता है कि जब वह गर्भ में ही था तो वह सभी देवताओं को जान चुका था। (ऋ. वे. IV 27.1) कुमारस्वामी के शब्दों में, उसका ज्ञान वस्तुपरक नहीं और न ही वह घटनाओं के घटित होने पर उपलब्ध होता है। यह ज्ञान तो उसे अपनी चेतना के दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तुओं के पूर्ववर्ती सादृश्य से प्राप्य है। सृष्टिकर्त्ता सभी चीज़ों को उनकी एकात्मता और विविधता में एक साथ ही देख सकता है। अभिविपश्यति और अभिसम्पश्यति (ऋ. वे. VIII 62.9 और X 187.4 क्रमशः) अतः सृष्टिकर्त्ता वेद से भिन्न नहीं है। वेद ही विश्व का प्रारूप बनता है।

क्या वेद का निहितार्थ किताबी वेद है जिसमें ऋषियों द्वारा अभिव्यक्त देवस्तुतियों का संकलन है? लेकिन जब सृष्टि-प्रक्रिया में देवताओं का आविर्भाव पूर्व युग के बाद के चरण में हुआ तो वेद में संकलित स्तुतियों में पूर्व युग का अपूर्ण और अस्पष्ट आभास ही मिल सकता है। इसलिए किताबी वेदों में सृष्टि-रचना की प्रक्रिया की धूमिल छाया ही प्रतिबिम्बित है। **शतपथ ब्राह्मण** (X.5.1.5) में यह कहा गया है: "यह वाणी तीन प्रकार की है—ऋक्, यजु, साम। ऋचाएं मण्डल हैं, साम ज्योति, यजु पुरुष और यह जो अमृत या ज्योति चमकती है, वह है पुष्करपर्ण।" पुनः **शतपथ ब्राह्मण** (X.5.2.1) में यह भी कहा गया है: 'यह जो मण्डल तपता है वह महदुक्थ है, ऋक् है, यह ऋक् का लोक है। यह जो प्रकाश चमकता है वह महाव्रत है, ये साम हैं, यह साम का लोक है। और यह जो इस मण्डल में पुरुष है वह अग्नि है। वे यजु हैं, यह यजु का लोक है।" इन मंत्रों में किताबी वेदों का संकेत नहीं, उन

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वेदों का संकेत है जिनके आधार पर सृष्टि-रचना-व्यवस्थापन आदि का सृष्टि-कर्म सम्पादित होता है। ब्रह्म और वेद में पूर्ण तादात्म्य के कारण ही यह कहा जाता है कि इदं सर्वम् का मूल स्रोत वेद ही है। इसी मौलिक वेद से सभी वेद निःसृत होते हैं और उनकी अवस्थिति का औचित्य प्रमाणित होता है। 'वेद' शब्द के विभिन्न अर्थों को दृष्टिगत रखते हुए ऐसा स्पष्ट लगता है कि यह अस्तित्व के तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों को संकेतित करता है : विद्यते (सत्तात्मक), वेत्ति (ज्ञानार्थक) और विन्दति (उपलब्धि परक)। पहले तो यह अज्ञात अस्ति है जिसका आत्मज्ञान क्रियाशील होकर विश्व की उपलब्धि करता है। वेद का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण निहितार्थ है। अतः विश्व अज्ञात परमसत्ता के मन और प्राण (बुद्धि और क्रिया) का विकसित रूप है। परन्तु ब्रह्म के विश्व में परिवर्तित होने के लिए एक तीसरे तत्त्व की भी आवश्यकता है। यह तत्त्व है वाक् (भूत, Maghe, Matter) जो ब्रह्म (नाम) का शरीर बनकर नाना रूप-धारण का आधार बनता है। अतः ब्रह्म के प्रसरण में तीन मूल तत्त्वों का समावेश है, ज्ञान (मन) क्रिया (प्राण) और भूत (वाक्)। मन और प्राण वाक् के साथ मिलकर एक के अनेक होने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

परन्तु इस प्रसरण का प्रारम्भ-बिन्दु कहां है और इसकी सीमा क्या है? ऋग्वेद (X 81.2) में यही प्रश्न पूछा गया है : आलम्बन क्या था और आरम्भण भी क्या था? कहां से, किस चीज़ से विश्वकर्मन् ने स्वर्ग और पृथ्वी की रचना कर उन्हें अपनी महिमा से आच्छादित कर दिया? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विश्व का आरम्भण और अधिष्ठान दोनों ब्रह्म ही है जो अपनी अक्षय ऊर्जा को पिण्ड में परिवर्तित करता है। वह प्रक्रिया जिसमें आद्य ऊर्जा पिण्ड में रूपान्तरित होती रहती है, उन नियमों, सिद्धान्तों से नियमित होती रहती है जिन्हें ऋक्, साम और यजु के नाम से जाना जाता है। इन्हें ही त्रयी विद्या कहते हैं। यह त्रयी विद्या सृष्टिकर्त्ता में समाहित है और इसका सम्बन्ध ब्रह्म के रूपान्तरण-प्रसरण की प्रक्रिया से है। इस प्रसरण का आरम्भण ब्रह्म है जिसे यजु (गत्यर्थक) की संज्ञा दी जाती है। ब्रह्म रूपी यजु ही गतिमान् होकर प्राण बनता है जो संभवन की प्रक्रिया का प्रारम्भिक बिन्दु (आरम्भण) और अधिष्ठान (प्रतिष्ठा) दोनों ही बनता है। गतिमान् होने पर प्राण को अगति, कुगति से बचाने के लिए अनुशासित करने की ज़रूरत है। अतः प्राण की गति को इस तरह नियमित किया जाता है कि आन्तरिक और बाह्य रूप दोनों से ही पिण्ड के लिए हितकर सिद्ध हो। प्राण की विभिन्न गतियों (प्राण, अपान, व्यान आदि) में पारस्परिक समर्थन और पूरक भूमिका निभाने की क्षमता अन्तर्भूत होती है। इसके साथ ही इन्हें वातावरण से विनिमय-व्यापार का उत्तरदायित्व भी निभाना पड़ता है। प्राण जब गतिमान् होता है तो उसका रूपान्तरण मूर्ति में होता है, तब यह ऋक् का सिद्धान्त माना जाता है। परन्तु जब वह नाम-रूप में परिवर्तित होता है तो उसे परिसीमित करने की आवश्यकता होती है। ब्रह्म के प्रसरण को सीमित करने की

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रक्रिया को ही साम की संज्ञा दी जाती है। इस परिसीमन में ऐसी परिधि (परिणाह) बनती है जो मूर्ति से प्रकाश के निःसृत होने के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष होती है और मूर्ति से निःसृत ज्योति की अन्तिम सीमा परिभाषित करती है। इस परिसीमन-सिद्धान्त को ही साम कहा जाता है।

स्पष्ट है कि त्रयी विद्या की सृष्टि-रचना में महत्त्वपूर्ण भूमिका है। **तैत्तिरीय ब्राह्मण** (3.12.9) के अनुसार ऋक् मूर्ति है, यजु गति का स्रोत है और साम तेज है। इसी त्रयी विद्या की सहायता से ब्रह्म विश्व में रूपान्तरित होता है। इन सिद्धान्तों को छन्दोवेद की भी संज्ञा दी गई है। इसमें वह तत्त्व जो वर्धमान होता है (यजु) मूर्ति या ऋक् (विष्कम्भ), और मूर्ति से प्रसरित प्रकाश साम (परिणाह) ये सभी समाविष्ट हैं। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए जिस प्रतीक का प्रयोग किया जाता है उसे चक्र या वृत्त की संज्ञा दी जाती है। इस वृत्त का केन्द्र अव्यक्त सत्ता का प्रतीक है, सशरीरी प्राण का प्रतीक व्यास है, और प्राण रूपी ऊर्जा की परिसीमा-रेखा परिधि कहलाती है। यहां यह कहना आवश्यक है कि इस आद्य ऊर्जा की गति रेखाकार नहीं अपितु मण्डलाकार है। यह प्रसरण के और उसके परिसीमन के नियमित-अनुशासित (छन्दोबद्ध, परिमेय) होने का प्रतीक है।

त्रयी विद्या का सम्बन्ध एक के अनेक होने की प्रक्रिया से है। प्राण की विभिन्न गतियों का एक मुख्य कार्य यह है कि वह बाह्य वातावरण से पिण्ड के लिए संयोजक तत्त्व ग्रहण करे। इस कार्य की विधि अग्निसोमात्मक सिद्धान्त से शासित होती है। कहने की ज़रूरत नहीं कि ब्रह्म अग्नि के रूप में सभी चीज़ों में गर्भस्थ है। परन्तु अग्नि को हमेशा अन्न चाहिए। यह अन्न है सोम। यह सोम सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। **ऋग्वेद** के अनुसार अग्नि पुंजातीय तत्त्व है जो स्त्री-जातीय तत्त्व सोम से मिथुनबद्ध होकर विश्व को जन्म देता है। यह अग्नि-षोमात्मक सिद्धान्त अस्तित्व के तीनों स्तरों—आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक—पर क्रियाशील रहता है। इसका एक निहितार्थ तो यह है कि प्रत्येक पिण्ड में तीन अत्यावश्यक शक्तियां—केन्द्रापसारी, केन्द्राभिमुखी और संतुलनकारी—विद्यमान होती हैं, इन्हें ही क्रमशः इन्द्र, विष्णु और प्रजापति की संज्ञा दी गई है। इन्द्र ऊर्जा को बहिर्गत करता है, विष्णु बाहर से ऊर्जा लाकर क्षतिपूर्त्ति करता है। इसी अर्थ में इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा समझ में आती है। **ऋग्वेद** (VI.69.8) में इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा का ज़िक्र है, परन्तु इसमें किसी की जीत नहीं होती। **ऋग्वेद** VI.22.19 में विष्णु को "इन्द्रस्य युज्य सखा" भी कहा गया है। प्रजापति का इस संदर्भ में निहितार्थ संतुलनकारी शक्ति से है, जो प्रतिष्ठा (गतिहीनता, अधिष्ठान) का द्योतक है। प्रतिष्ठा के आधार पर ही केन्द्र-पसारी और केन्द्राभिमुखी शक्तियों का खेल चलता रहता है। डैनियेलू के शब्दों में, सृष्टि में विद्यमान इन तीन शक्तियों को आदान, उत्क्रांति और प्रतिष्ठा भी कहा जाता है।

ये त्रिक शक्तियां एक ही प्राणतत्त्व के तीन विभिन्न पक्ष हैं। इन शक्तियों को प्रतीक की भाषा में हृदयम् (हृ + द + यम्) भी कहा जाता है। इसका निहितार्थ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

बाहर से अन्दर की ओर आती संपोषक ऊर्जा है, अन्दर से बहिर्गत होने वाली ऊर्जा है और यम् का अर्थ नियामक शक्ति है। इसी प्रक्रिया को रस वेद की भाषा में भी अभिव्यक्त किया गया है। यजुर्वेद (XXX.1.9) के अनुसार, "प्रत्येक वस्तु के गर्भ में प्रजापति या अग्नि उपस्थित है, वह अजन्मा होने पर भी विविध रूपों में प्रत्यक्ष होता है . . ."यह अग्नि जब प्रसरणशील होता है तब कुछ ऊर्जा की क्षति होती है। इस क्षति की पूर्त्ति अनिवार्य है। बाह्य वातावरण से ऊर्जा के आने से यह क्षतिपूर्त्ति होती है। बाहर से ऊर्जा लाने का उत्तरदायित्व विष्णु का है, और इसके द्वारा जब ऊर्जा लायी जाती है तो उसे महाव्रत कहते हैं। अग्नि, महोक्थ और महाव्रत का खेल उन सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं को रेखांकित करता है जिनके सहारे सृष्टि का क्रम आरम्भ होता है, सृष्टि का संपोषण होता है और इसका नवीकरण होता है। इस त्रिक के द्वारा ब्रह्म के विश्व में रूपान्तरित होने की प्रक्रिया का स्पष्टीकरण होता है। एक के अनेक होने की प्रक्रिया को वैदिक साहित्य में अज्ञात और अव्यय के भौतिकता से आवृत होने की प्रक्रिया के रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रक्रिया में अपरिमित अज्ञात परिमित होकर दृश्यमान् जगत् का रूप धारण करता है। और चूंकि इस विशाल विश्व में ब्रह्म ही सत् है, ब्रह्म चित् भी है और अपरिमित होने के कारण आनन्द या भूमा भी है।

अपरिमित, अव्यय, अज्ञात ब्रह्म को रस भी कहा गया है और रस के रूप में वह असत् के नाम से वेदों में प्रसिद्ध है। जब इस सतत प्रवहमान्, अशान्त, समरस आद्य ऊर्जा में किसी कारणवश क्षोभ उत्पन्न होता है तो प्राण ऊर्जा के भौतिकता में रूपान्तरण की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।* जैसाकि नासदीय सूक्त (ऋ. वे. X.129) से स्पष्ट है, विश्व के उद्भव के पूर्व असत् नहीं था, सत् भी नहीं था और न ही और कुछ था। इस 'वस्तु के अभाव' की स्थिति में अज्ञात के मन में काम पैदा हुआ, यही काम सृष्टि-रचना का प्रथम तत्त्व है। इसे ऋग्वेद में मन्युदेव की संज्ञा दी गई है। मन्युदेव ने संकल्प की पुत्री वाक् से विवाह किया (अथर्ववेद XI.8)। जैसाकि ऋग्वेद (X.129.4) से स्पष्ट है, काम ही ऐसा तत्त्व है जो अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष से जोड़ता है और असत् (वैदिक परिभाषा के अनुसार असत् वह है जिसका कोई रूप नहीं, कोई केन्द्र नहीं) और सत् (जिसका रूप और केन्द्र दोनों हो) को एक सूत्र में पिरोता है। काम के आविर्भाव के परिणामस्वरूप एक का द्वि-विभाजन होता है और दो विरुद्ध परन्तु पूरक तत्त्वों का आविर्भाव होता है (इसे ही अर्द्ध-नारीश्वर के

---

* आणविक भौतिकी में अणु या मूल कणिकाओं को वस्तु नहीं, संभाव्यता माना जाता है, ये ऊर्जा के समाहार हैं। जब ऊर्जा का क्षेत्र क्षुभित होता है तो ऊर्जा की समरसता भंग होती है और इसके प्रवाह में व्यतिक्रम पैदा होता है। ऊर्जा का प्रवाह रेखाकार न होकर वर्तुल हो जाता है। परिणामस्वरूप इसके दो—धनात्मक और ऋणात्मक छोर बन जाते हैं। वर्तुलाकार प्रवाह के कारण शीर्ष पर अणुओं का केन्द्रीकरण होता है जो अन्त में भौतिकता का रूप धारण करता है। सृष्टि की वैदिक अवधारणा के यह कितना समीप है, यह कहने की ज़रूरत नहीं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

रूप में जाना जाता है) इन्हीं दो तत्त्वों के 'मिथुन' के परिणामस्वरूप सृष्टि-प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है।

वैदिक परिप्रेक्ष्य के मूल में यह प्रत्यय है कि जब सृष्टिकर्त्ता प्रजोत्पत्ति की इच्छा से क्षुभित हो उठता है तो उसका द्विविभाजन होता है, इन दो अर्द्धांगों के सम्मिलन से एक अनेक में रूपांतरित होता है। अतः मन्युदेव के प्राबल्य के कारण द्वैधीभाव का जन्म होता है और समग्र वास्तविकता द्वि-विभाजित हो जाती है। **(बृहदारण्यक उपनिषद् 1.4.3)** और अगर "तदकेम्" जीवन्त युग्म न होता, सहवासी माता-पिता की इकाई न होता (ऋ. वे. 1.140. 3, III.7.1) तो फिर यह द्वि-विभाजन भी संभव नहीं होता। युगनद्ध जनकों का माता और पिता में द्विविभाजन और पुत्र (इन्द्राग्नि) की उत्पत्ति, ज्योति का आगमन, सूर्य का स्वर्ग में आरोहण "विश्व रूपाणि प्रतिमुंचते कविः . . . सविता" (ऋ. वे. V.81.2) में सम्पाती वृत्त हैं। अतः ब्रह्म रूपी युग्मात्मक तत्त्व का द्विविभाजन संभवन की प्रक्रिया का आरम्भण है। "देवानां माने प्रथमा अतिष्ठन्कृन्तत्रादेषामुपरा उदायन। त्रयस्तपन्ति पृथिवीमनूपा द्वा बृबूकं वहतः पुरीषम् (ऋ. वे. X.27.23) अर्थात् देवों के निर्माणकाल में प्रथमा (तदेकम्) ही विद्यमान था, इसके द्वारा छेदन-भेदन से मेघ उत्पन्न होता है। इसके पश्चात् तीन तत्त्व अग्नि, वायु और सूर्य जल को सूर्यमण्डल की ओर ले जाते हैं। स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती के विभाजन से उत्तरवर्ती की अवस्थिति संभव होती है। यह भी स्पष्ट है कि मन्यु और वाक् के मिंथुन से सृष्टि की उत्पत्ति होती है अथवा, माइस्टर ऐक्खार्ट के शब्दों में "चिरन्तन में समाविष्ट जननशक्ति का उदय होता है। इसी जननशक्ति के कारण असत् सत् में परिवर्तित होता है। अर्थात् जो प्रारम्भ में रूपहीन, केन्द्रहीन था, वह रूप धारण करता है और इसके फलस्वरूप अनन्त व्यक्तिगत केन्द्रों का निर्माण होता है।

इस जननशक्ति के सतत कार्यशील होने की प्रक्रिया को ही यज्ञ की संज्ञा दी गई है। इस यज्ञ का निहितार्थ यह है कि जब रस में क्षोभ पैदा होता है तो फिर उसमें बल पड़ता है, और जल की लहर पैदा होने पर ग्रन्थि बनती है। यह ग्रन्थि तब पड़ती हैं जब बल की लहरों में घात-प्रतिघात की क्रिया होती है। इस ग्रन्थि-बंधन की क्रिया को चयन कहा जाता है। चयन की क्रिया के दौरान बलों का अम्बार लगता है। फिर प्रवहमान् रस भौतिकता के आवरण में कैद हो जाता है। इस प्रक्रिया को आधुनिक विज्ञान 'सोलिटोन' के नाम से पुकारता है। वैदिक साहित्य सृष्टि की प्रक्रिया को चरितार्थ करने के लिए, यज्ञ के स्वरूप को दिग्दर्शित करने के लिए, रस-चयन-बल-ग्रन्थि आदि के प्रतीकों के द्वारा एक के अनेक होने का वृत्तान्त प्रस्तुत करता है। एक के रूपान्तरण के द्वारा ब्रह्म के प्रसरण और विविक्ति की प्रक्रिया का चित्रण होता है। ब्रह्म के प्रसरण से बल पर बल पड़ते रहने के कारण रस प्राणियों, पदार्थों में रूपान्तरित तो अवश्य होता है परन्तु इस रूपान्तरण के कारण इसकी मौलिक प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता, यह एक व्यापक और अव्यय तत्त्व बना रहता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अन्तर इतना ही है कि क्षुभित रस बल के चयन से ग्रन्थि में परिवर्तित होने पर परिसीमित होकर अनन्त रूपों में फैल जाता है।

"तदेकम्" के विश्व में रूपान्तिरत होने की प्रक्रिया ही यज्ञ है। यह यज्ञ अबाध रूप से अधिक दैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्तरों पर होता रहता है। इस यज्ञ के परिणामस्वरूप ही प्रजोत्पत्ति होती है और प्रजा के संपोषण के लिए वित्त का संयोजन होता है। विभिन्न स्तरों पर निरन्तर होते रहने वाले यज्ञ का ज्ञान ही वेद है। अतः ब्रह्म, या अज एकपाद, अपने अंन्तर्विष्ट ज्ञान (वेद) की सहायता से यज्ञ में निरत होता है और यज्ञ के द्वारा विश्वकर्मन् ने रूप में सृष्टि की रचना करता है। निस्सन्देह ही यह विश्व और इसके पदार्थ नश्वर हैं। परन्तु इन सभी नश्वर पदार्थों के हृदय में तदेकम् का निवास है। मृत्यु में अमृत की उपस्थिति है। अतः विश्व उस अज्ञात और अव्यय का भौतिक आवरण मात्र ही है। इस दृष्टि से विश्व के सभी पदार्थ अमृत का विवर्त या सर्जन हैं। इसलिए ब्रह्म और विश्व में कोई द्वैधी-भाव हो नहीं सकता।

नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ सोश्यल वर्क एण्ड सोश्यल साइंसिज़
3, चन्द्रशेखरपुर, भुवनेश्वर-751016

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमाण-सम्प्लव एवं प्रमाण-व्यवस्था *

अम्बिकादत्त शर्मा

I

भारतीय प्रमाण-मीमांसीय चिन्तन के ऐतिहासिक विकास को पांच प्रस्थानों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम प्रस्थान महर्षि गौतम का है, जो तत्त्व की अपेक्षा प्रमाणों को प्राथमिकता प्रदान करते हुए एक रचनात्मक प्रमाणमीमांसीय ढांचे को प्रतिपादित करता है। **न्यायसूत्र** में प्रथमतया प्रमाणों का उल्लेख और गंगेश उपाध्याय के इस कथन "प्रमाणाधीना सर्वेषां व्यवस्थितिः' से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। महर्षि गौतम-सम्मत "प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः प्रमाणसिद्धिश्च लक्षणा" नामक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहे जाने वाले अभ्युपगम के विरोध में नागार्जुन, श्रीहर्ष और जयराशीभट्ट-प्रणीत तीन खण्डनात्मक प्रस्थान विकसित हुए हैं। तीनों की शैली वितण्डावादी है, जिनका पर्यवसान प्रमाण-मीमांसीय दृष्टि से प्रमाणों के प्राथमिक महत्त्व के निराकरण व प्रमाणोच्छेदवाद में होता है। अन्तिम प्रस्थान तर्कपुंगव दिङ्नाग का है; जो संशोधनात्मक रूप में तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाणमीमांसा के एक पुनर्रचनात्मक ढांचे को प्रस्तावित करता है। दिङ्नाग के पक्ष में कहा जा सकता है कि यथार्थवादियों ने तर्क में अनधिकार चेष्टा की है। उन्होंने ग़लत परिभाषाएं दी हैं। हम तो केवल उन्हें ही शुद्ध कर रहे हैं।[1] वस्तुतः महर्षि गौतम और उनका अनुगमन करने वालों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में प्रमाणों की प्रस्थिति और भूमिका की बहुविध आलोचना से यह स्पष्ट हो गया था कि कोई भी रचनात्मक प्रमाणमीमांसा तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त नहीं हो सकती है। प्रमाण-मीमांसीय गतिविधि एक आश्रित क्रिया है जिसकी उपादेयता स्वमत या स्वगोत्र के अनुरूप तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता के विवेचन या निदर्शन मात्र में निहित होती है।

इस पृष्ठभूमि में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की समस्या गौतम और तत्सम्बद्ध अन्य तार्किकों तथा दिङ्नाग के प्रमाण-मीमांसीय प्रस्थान से संबंधित है। प्रकरणात्मक समस्या होने के कारण इसका इतिहास और पल्लवन बहुत स्पष्ट नहीं है। **सांख्यसूत्र, वैशेषिकसूत्र, न्यायसूत्र** और **मीमांसासूत्र** में इसकी चर्चा नहीं हुई है। **वात्स्यायन भाष्य, न्यायवार्त्तिक** तथा **मीमांसाश्लोकवार्त्तिक** में समस्या की औपचारिक विवेचना की गई है। बौद्ध न्याय के प्रमुख ग्रन्थों में सम्प्लव और व्यवस्था जैसे शब्द

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के 40वें अधिवेशन में 'प्रमाण सम्प्ल्व एवं प्रमाण-व्यवस्था' संगोष्ठी में प्रस्तुत।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भी इस सन्दर्भ में प्रयुक्त नहीं हुए हैं। समस्या के नामकरण की पदावली भी वौद्धेतर ही है। वात्स्यायन[2] ने सर्वप्रथम इसे परिभाषित करते हुए "एक ही प्रमेय में एक से अधिक प्रमाणों की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति" को क्रमशः सम्प्लव और व्यवस्था कहा है। उद्योतकर ने इसके लिए साङ्कर्य तथा असाङ्कर्य शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ लोग व्यवस्था के बदले विप्लव शब्द का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं। बौद्धेतर सम्प्रदायों में जहां कहीं भी सम्प्लव और व्यवस्था का प्रसंग आया है उनके स्वर आलोचनात्मक हैं। आलोचनात्मक मुद्रा में बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाणसम्प्लव के प्रति आग्रहवान् प्रतीत होते हुए भी यत्किंचित् प्रमाण-व्यवस्था को भी स्वीकार कर लेते हैं। एतावता सम्भवतः दिङ्नाग के पश्चात् इस प्रश्न नें प्रतिक्रियात्मक रूप से बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिकों को परस्पर आकृष्ट किया है।

भारतीय दर्शन में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद मुख्य रूप से प्रमाण-विनियोग की अवधारणा से संबंधित है। प्रमाणों की संख्या एक से अधिक स्वीकार करने पर उनके विषय एवं क्षेत्र की विशिष्टता निर्धारण के लिए प्रमाण-विनियोग की अवधारणा का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। चार्वाक प्रभृति एकल-प्रमाणवादियों के लिए यह कोई समस्या ही नहीं है। प्रमाण-विनियोग की अवधारणा सुनिश्चित करने के लिए प्रमाणों के आपसी सम्बन्ध विषयक कुछ सामान्य प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। क्या प्रमाण एक-दूसरे के क्षेत्र में क्रियाशील हो सकते हैं? क्या प्रमाणों के परस्पर सहयोग से ही विषय की सम्यक् उपलब्धि सम्भव होती है? क्या एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण के द्वारा समान रूप से जाना जा सकता है? इन्हीं प्रश्नों की पृष्ठभूमि में बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिक दो खेमों में बँट जाते हैं। वौद्ध नैयायिकों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में प्रमाणों की परस्पर प्रयुक्ति अनुपपन्न है। इनके अनुसार कोई भी प्रमाण अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना दूसरे के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता है। प्रमाण विशिष्ट विषयक होते हैं। बौद्धेतर दार्शनिक प्रमाण-व्यवस्था को अनुभव-विरोधी एक दोषपूर्ण दृष्टि मानते हैं। व्यवहार में एकाधिक प्रमेयों में एक ही प्रमाण की प्रवृत्ति और एकाधिक प्रमाणों से एक ही प्रमेय की उपलब्धि सुतरां प्रसिद्ध है। बौद्ध न्यायिकों की दृष्टि में प्रमाण-व्यवस्था का प्रश्न प्रमाणों के विभाग में ही निहित होने के कारण यह प्रमाण-विनियोग के लिए अपेक्षित एक सिद्धान्त है।

II

बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसाश्रित प्रमाण-मीमांसीय योजना में प्रमाण-व्यवस्था कुछ विशेष रूप में रूपायित हुई है। इनके मत में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक द्विविध प्रमेय और तदनुसार प्रत्यक्ष और अनुमान नामक द्विविध प्रमाणों को स्वीकार किया गया है। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। स्वलक्षण और सामान्य लक्षण क्रमशः परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

में एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। स्वलक्षण वह सब कुछ है जो सामान्यलक्षण नहीं है। सामान्यलक्षण उन सबका निषेध है जो स्वलक्षणतः है। सत्ताविषयक यही व्यावृत्ति उनके प्रमाण-विभाग और विनियोग में परिलक्षित होती है। साधारणतया बौद्ध-सम्मत प्रमाण-व्यवस्था का यही स्वरूप है। किन्तु बौद्ध नैयायिकों ने इसकी एक सूक्ष्म व्यवस्था भी प्रस्तुत की है। वास्तव में स्वलक्षण ही एकमात्र प्रमेय है। एक ही परमार्थसत् स्वरूपेण स्वलक्षण और पररूपेण सामान्यलक्षण के रूप में अभिहित होता है।[4] इसलिए बौद्धन्याय में प्रत्येक प्रमाण के ग्राह्य एवं अध्यवसेय नामक द्विविध विषयों की व्यवस्था दी गई है।[5] क्षणिकवाद की पृष्ठभूमि में, जिसका ग्रहण होता हो उसी का अध्यवसाय सम्भव नहीं है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में गृहीत स्वलक्षण सर्वथा अनभिलाप्य होता है। विकल्पों के माध्यम से स्वलक्षण अभिलाप्य होने की प्रक्रिया में सामान्यलक्षण बन जाता है। इसलिए प्रत्यक्ष का ग्राह्य विषय क्षणमात्र स्वलक्षण है, लेकिन उसका अध्यवसेय क्षण-सन्तान मात्र सामान्यलक्षण होता है। इसी प्रकार अनुमान का ग्राह्य विषय सामान्यलक्षण तथा अध्यवसेय स्वलक्षण ही माना गया है। इस प्रकार प्रमाणों के ग्राह्य एवं अध्यवसेय विषय की दृष्टि से प्रमाण-व्यवस्था की स्वीकृति बौद्ध नैयायिकों का विशेष अभिमत है।

न्यायवादी बौद्धसम्मत प्रमाण-व्यवस्था की ऐसी संरचना के प्रति विप्रतिषेधयुक्त होने का आक्षेप लगाते हैं। प्रो. ए. के. चटर्जी[6] के अनुसार प्रमाण-व्यवस्था की अवधारणा सभी प्रकार के ज्ञानों को प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक द्विविध कोटियों के अन्तर्भूत कर देती है। प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और अनुमानात्मक ज्ञान अपने अपने स्वरूप एवं विषय की दृष्टि से एक-दूसरे को व्यावृत्त करते हैं। ऐसा सिद्धान्त जो परस्पर व्यावर्तक दो ही कोटियों को निर्धारित करता हो, स्वयं को उन्हीं कोटियों में समायोजित नहीं कर सकता है। अतः प्रमाण-व्यवस्था को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना जाय, सम्भव नहीं, क्योंकि यह एक साथ स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण से संबंधित सिद्धान्त है। यह बौद्धमत में स्वीकृत प्रमाणों की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। इसमें ज्ञान के लिए किसी तीसरे प्रमाण को स्वीकार किया जाय तो प्रमाण-व्यवस्था व्याहत होगी या तृतीय प्रमेय को विचार-योजना में सम्मिलित करना पड़ेगा। दोनों ही बातें बौद्धाभिमत के विरुद्ध हैं। अतएव इस रूप में प्रमाण-व्यवस्था का प्रस्ताव एक अधितार्किक अन्वेषण ही हो सकता है। यह अपनी गवेषणा के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को अपेक्षित करता है जो स्वलक्षण और सामान्यलक्षण को साथ-साथ जानता हो। बौद्ध नैयायिकों की विचार-योजना में स्वलक्षण एवं सामान्यलक्षण को साथ-साथ जानना सामान्य जन की संज्ञानात्मक परिसीमा में असम्भव है।

उपदर्शित विप्रतिषेध को स्पष्ट करने के लिए यह पूछा जाना चाहिए कि 'प्रमाण-व्यवस्था का ज्ञान किस प्रमाण से होता है'—इसका क्या अभिप्राय है? वास्तव में विप्रतिषेधगत मूल प्रश्न यह है कि 'प्रमाण-व्यवस्था का आधार-विषयक द्वैविध्य है

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और विषय-द्वैविध्य परस्पर व्यावृत्तिरूप है' यह ज्ञान कैसे होता है? यदि यह बताया जा सके तो प्रमाण-व्यवस्था की आनुभविक गवेषणा सम्भव हो सकती है। किन्तु प्रमाणों के द्वारा यह बताया जाना सम्भव ही नहीं, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। स्वयं बौद्ध नैयायिकों को प्रमाणपूर्वक प्रमेयों के आपादन या सिद्धि का पक्ष स्वीकार भी नहीं है। 'मेयाधीना मानसिद्धिः' अर्थात् विषयद्वैविध्यपूर्वक प्रमाण-द्वैविध्य का पक्ष उनका मत है। 'मनं द्विविधं विषयद्वैविध्यात्' वार्तिक में 'द्वैविध्यात्' पंचमी विभक्ति होने से उक्त आशय की ही पुष्टि होती है। पंचमी विभक्ति का प्रयोग यहां हेतुभाव में विवक्षित है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों ने विषय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को प्रमाणेन आपादित न कर 'द्वैराध्यभेद' के आधार पर प्रतिपादित किया है। हम अपने अनुभव में सर्वत्र द्वैविध्य पाते हैं।[7] लोकानुभव में आसन्न द्वैराध्य को पुष्ट करने के लिए धर्मकीर्त्ति ने शक्त-अशक्त, सदृश-असदृश, धीविषयक धी-अविषयक, शब्द-विषय शब्द-अविषय नामक चतुर्विध मानदण्डों को प्रस्तावित किया है।[8] ये मानदण्ड अपने स्वरूप में हमारे सम्पूर्ण अनुभव (अस्तिभाति) को व्याप्त करते हैं। यह द्वैराध्यभेद की अवधारणा व्यावहारिक बुद्धि से सामान्य अनुभव का विश्लेषण कर आनुभविक उपलब्धियों में आचरित तात्त्विक कोटि-निर्धारण का प्रमाण-निरपेक्ष अभिगम है.। बौद्ध नैयायिकों ने इसी के द्वारा स्वलक्षण-सामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को उपस्थापित किया है।

यदि द्वैराध्यभेदपूर्वक विषय-द्वैविध्य की उपस्थापना को स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रश्न उठता है कि द्विविध विषय के लिए दो ही प्रमाणों को मानना क्यों आवश्यक है? क्या विषय-द्वैविध्यपूर्वक एक प्रमाण या दो से अधिक प्रमाणों का विधान नहीं किया जा सकता? बौद्ध नैयायिकों के पक्ष से इसका उत्तर देते हुए कुछ इस प्रकार की बातें कही जा सकती हैं—प्रथमतः,[9] प्रमाणों का वर्गीकरण करने के लिए विषय के अतिरिक्त कोई अन्य समुचित आधार नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाण प्रमेयमूलक ही हुआ करते हैं। अतः जब दो ही विषय हैं तो किसलिए तृतीय प्रमाण को स्वीकार किया जाय? द्वितीयतः,[10] प्रमेय-द्वय के लिए प्रमाणद्वय ही न्यायोचित है। प्रमाणसम्प्लव के सम्भव नहीं होने के कारण प्रमेयद्वय के लिए एक या दो से अधिक प्रमाणों का विधान सर्वथा असंगत है। तृतीयतः,[11] प्रत्यक्ष और परोक्ष-भेद से प्रमेयों के द्विविध प्रकार हैं। परस्पर एक-दूसरे के भेदक दो पदार्थों में तृतीय प्रकार की सम्भावना ही नहीं है। जो प्रत्यक्ष है वह परोक्ष नहीं जो परोक्ष है वह प्रत्यक्ष नहीं। प्रत्यक्ष और परोक्ष के अतिरिक्त तृतीय विषय का स्थान ही कहां है? तृतीय विषय की असत्ता का बोध भी प्रत्यक्ष से ही हो जाता है। 'नील' इत्याकार प्रत्यक्ष नील को नील के रूप में ही प्रकट करते हुए अनील का निराकरण भी करता है। नील संवित् में अनील का प्रतिभास नहीं होता है। नील-ज्ञान-प्रतिभास नील ही हुआ

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

करता है। नीलेतर जो कुछ भी है वह अनील की कोटि में आता है। इस प्रकार जब तृतीय विषय ही नहीं तो तृतीय प्रमाण को अनावश्यक रूप से क्यों स्वीकार किया जाय? चतुर्थतः,[12] जब ज्ञान स्वगत ही दो आकारों का बोध कराता है तो प्रमाण न एक और न दो से अधिक ही हो सकते हैं। पंचतः,[13] प्रमाणविषयक प्रमाण मानना भी आवश्यक नहीं है। यह अनावश्यक रूप से अनवस्था को आमंत्रित करने वाला होगा। प्रमाण का स्वरूप तो स्वसंवेदनाकार रूप से सिद्ध ही है। षष्टतः,[14] साक्षात् और परोक्ष प्रतिपत्ति के रूप में प्रत्यक्ष और अनुमान के अन्तर्गत सम्भव सभी प्रमाणों का अन्तर्भाव होने से भी प्रमाणद्वित्व ही न्यायोचित है।

किन्तु इस पर प्रश्न उठता है कि यदि द्वैराध्य भेदपूर्वक विषय-द्वैविध्य और विषय-द्वैविध्यपूर्वक प्रमाणद्वित्व का नियम स्वीकार भी कर लिया जाय तो प्रत्यक्ष-परोक्षात्मक विषय-भेद किस प्रमाण के द्वारा प्रतीत होता है? प्रज्ञाकरगुप्त[15] ने इस प्रश्न को स्वयं ही उठाया है। इसे प्रत्यक्ष, अनुमान अथवा अन्य प्रमाण से ज्ञापित होना चाहिए। स्वलक्षण-सामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता को प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से नहीं जाना जा सकता, क्योंकि दोनों का अपने-अपने विषय में प्रामाण्य स्थित है। यदि इसे प्रत्यक्षतः ज्ञापित माना जाय तो परोक्ष वस्तु में भी प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति को स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार यदि अनुमानतः ज्ञापित माना जाय तो प्रत्यक्ष विषय में भी अनुमान की प्रवृत्ति को स्वीकार करना पड़ेगा। प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त किसी तीसरे प्रमाण को विचार-योजना में सम्मिलित करना सम्भव ही नहीं, क्योंकि बौद्धों को अन्तिम रूप से दो ही प्रमाण इष्ट हैं। इस प्रकार उपर्युक्त तीनों ही विकल्प बौद्धाभिमत के विरुद्ध हैं।

प्रज्ञाकरगुप्त[16] ने उक्त समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि विषय की द्विविधता प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होती है, क्योंकि सदृशासदृशत्व की द्वैराध्य प्रतीति ज्ञान का धर्म है, जिसकी सिद्धि स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से हो सकती है। स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से ज्ञान और ज्ञानगत धर्म का भी ग्रहण हो जाता है। ऐसी प्रतीति भ्रांतिरूप है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भ्रांति की शंका होने पर वादी, प्रतिवादी और प्राश्निक का व्यवहार ही भंग हो जायगा।

इस प्रकार नैयायिक विषय-द्वैविध्य और विषय-द्वैविध्य की परस्पर व्यावृत्तिरूपता पर आधारित प्रमाण-व्यवस्था की संरचना में अवान्तर रूप से उठने वाली समस्याओं का स्पष्टीकरण देने का प्रयास करते हैं। किन्तु उनका संपूर्ण प्रयास आत्माश्रयदोष से ग्रसित है। द्वैराध्य-भेद के द्वारा विषय-द्वैविध्य की उपस्थापना और स्वसंवेदनपूर्वक उसका ज्ञापन मात्र तो सम्भव है, लेकिन इन सबके आधार पर विषय-द्वैविध्य का स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के रूप में ज्ञापित होना अनिवार्य नहीं है। यदि स्वसंवेदन की ऐसी व्याख्या की जाय जहां स्वसामान्यलक्षणात्मक विषय-द्वैविध्य की परमार्थसत् और विकल्पसत् के रूप में संवित्ति सम्भव हो तो स्वसंवेदन के उस स्तर को बौद्धों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में संग्रहीत नहीं किया जा सकता है। अतः बौद्ध नैयायिकों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की मूलभूत तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को किसी न किसी रूप में 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही होना चाहिए। इसे बुद्धदेशित परमार्थ और संवृत्ति की चेतना से अनुप्राणित कहा जा सकता है। द्वैराध्य-भेद इत्यादि अवधारणाओं के द्वारा सामान्य अनुभव को एक विशेष तार्किक तन्त्र में व्यवस्थित कर विषय-द्वित्व का आपादन अपनी तत्त्वमीमांसीय प्रतिज्ञा को व्यावहारिक बुद्धि का सम्बल देने और प्रागनुभविक निश्चितता प्रदान करने का एक सराहनीय प्रयास है।

वस्तुतः किसी भी दार्शनिक तन्त्र की मूलभूत प्रतिज्ञा को आनुभविक रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसे अन्ततः 'दिया हुआ' या 'प्रकाशित' ही मानना पड़ता है। आख़िर कोई तत्त्वमीमांसक यह कैसे जानता है कि सात ही पदार्थ या दो ही तत्त्व होते हैं? बौद्ध नैयायिकों के साथ यह समस्या प्रमाण-व्यवस्था के कारण और भी जटिल हो जाती है, क्योंकि एक प्रमाण के विषय को दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। बौद्धेतर दर्शनों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में ऐसी बात नहीं है, फिर भी प्रमाणसम्प्लव की भी कुछ अपनी समस्याएं हैं।

III

नैयायिक बौद्धेतर प्रमाण-सम्प्लववाद का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके मत में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द नामक चतुर्विध प्रमाण प्रसिद्ध हैं। पदार्थों की कोटि में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय और अभावादि को परिगणित किया गया है। ये सभी पदार्थ सामान्य रूप से सत् हैं और एक से अधिक प्रमाणों के द्वारा गम्य हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान की परिधि परस्पर व्यावर्तक नहीं है। बौद्धेतर अभिमत में प्रत्यक्ष की परिधि बहुत ही विस्तृत है। प्रत्यक्ष के द्वारा न केवल विशेष, जैसाकि बौद्ध मानते हैं, बल्कि समवाय और अभावादि को भी जाना जा सकता है। मीमांसक और वेदान्त प्रभृति दार्शनिक भी न्यूनाधिक रूप में इन पदार्थों को स्वीकार करते हैं, लेकिन उनका प्रत्यक्ष एक विवाद का विषय रहा है। इसी प्रकार नैयायिकों का अनुमान भी बहुत व्यापक है। अनुमान के द्वारा सामान्य-विशेषादि पदार्थों के अतिरिक्त अतीन्द्रिय सत्ताओं का भी ज्ञान होता है। आत्मा एवं ईश्वर आदि का अनुमान इसके उदाहरण हैं। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन[17] में प्रमाणों के सम्प्लव-क्रम को इस तरह निरूपित किया गया है : कोई अग्नि को आप्तोपदेश से सुनकर हेतु-दर्शन के द्वारा समझने की कोशिश करता है। हेत्वाश्रित अनुमान से समझकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता है। प्रत्यक्ष देखकर उपलब्ध अर्थ में जिज्ञासा की निवृत्ति हो जाती है। प्रत्यक्ष के द्वारा जिज्ञासित अर्थ की प्राप्ति होने के कारण वह जिज्ञासा का निवृत्तिकारक होता है। इस प्रकार प्रमाणों के विनियोग के ऊपरी ढांचे में नैयायिक स्पष्ट तौर पर प्रमाणसम्प्लववादी ही प्रतीत होते हैं। यह बात अलग है कि प्रमाणों के स्वरूप-निर्धारण और विनियोग में कतिपय सम्प्लव-विरोधी प्रश्न एवं दृष्टान्त उपस्थापित किये जा सकते हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमाणसम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था का विवाद प्रमाणों के स्वरूप-विषयक भेद से भी आधारभूत रूप में संबंधित है। बौद्ध और बौद्धेतर नैयायिकों के मध्य प्रमाण-स्वरूप विषयक पर्याप्त मतवैभिन्न्य रहा है। बौद्धों का प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होने के कारण स्वलक्षणग्राही होता है। स्वलक्षण कोई आनुभविक विशेष पदार्थ नहीं है। अपनी तात्त्विकता में स्वलक्षण स्वसंवित्-क्रिया का क्षणमात्र है। ऐसे स्वलक्षण के प्रत्यक्ष को साधारण प्रत्यक्ष की तरह नहीं समझा जाना चाहिए। नैयायिकों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न विशेष्य-विशेषणावगाही ज्ञान है। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष के छः प्रकार बताये गये हैं। षड्विध सन्निकर्षों की पृष्ठभूमि में ही सामान्य और अभावादि पदार्थों के प्रत्यक्ष की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार दोनों परम्पराओं में स्वीकृत अनुमान की संरचना में भी मौलिक अन्तर विवक्षित है। बौद्ध नैयायिकों का अनुमान विकल्पात्मक धर्म-धर्मी-सम्बन्ध पर आधारित होने के कारण सामान्यलक्षणग्राही है। अविनाभाव-रूप व्याप्ति-सम्बन्ध का निर्धारण कार्य, स्वभाव, और अनुपलब्धि-हेतु के द्वारा होता है। नैयायिकों की दृष्टि में अनुमान सत्तासमवाय का ही ग्रहण करता है। सत्तासमवाय ही उनके सत् का लक्षण है। साहचर्य-स्वरूपात्मक व्याप्ति-सम्बन्ध प्रत्यक्षाश्रित होने के कारण आगमनात्मक सामान्यीकरण की पद्धति से सिद्ध होता है। यहां विचारणीय है कि प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा एक ही विषय का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणों की परिभाषा से ही सम्बन्धित नहीं है। नव्य नैयायिकों ने भी किंचित् बौद्धों के प्रभाववश प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष की अपेक्षा साक्षात्कारित्व और व्याप्ति-निर्धारण के लिए भूयोदर्शन के बदले नियम पर विशेष बल दिया है। तथापि, बौद्ध और बौद्धेतर प्रमाणों के स्वरूप में मौलिक भेद बना ही रहता है। इस भेद को उद्घाटित करने के लिए यह पूछा जाना चाहिए कि प्रमाणों का स्वरूपात्मक भेद प्रमाण के घटकों या विषयों में से किसके द्वारा निर्धारित होता है? नैयायिकों के अनुसार प्रमाणों के स्वरूप-भेद का सूत्र प्रमाण-विशेष के घटकों में निहित है। बौद्धाभिमत में प्रमाण-स्वरूपभेद प्रमेयमूलक है। प्रमाण सदैव प्रमेय-सापेक्ष होते हैं। इसलिए प्रमेयों का गुणात्मक भेद प्रमाणों में भी गुणात्मक अन्तर को सुनिश्चित करता है। नैयायिकों को प्रमेय-विषयक गुणात्मक भेद स्वीकार्य ही नहीं है। अभिधेयत्व और ज्ञेयत्व की परिधि में आने वाले सभी पदार्थ समान रूप से सत् हैं। इस परिधि के बाहर सत्ता का विधान ही नहीं किया जा सकता। तब भी घटक-भेद से प्रमाण-स्वरूप का भेद करते हुए प्रमाणसम्प्लव की सम्यक् स्वीकृति विचारणीय है।

इसमें कोई दो राय नहीं कि सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रमाणसम्प्लव का समर्थन किया जा सकता है। हम घट को चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा जान सकते हैं। पर्वत पर की अग्नि को अनुमान एवं प्रत्यक्ष दोनों प्रमाणों से जाना जाता है। यहां प्रत्यक्ष-प्रमाण के घटक इन्द्रिय-संवेदों का परस्पर प्रयोग नितान्त भ्रामक प्रतीत

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

होता है। क्या सचमुच चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के विषय की समानता यथोचित है? चाक्षुष और स्पर्श प्रत्यक्ष के द्वारा तो हम घट के रूप और कठोरता को ही जानते हैं। रूप और कठोरता ही घट की सम्पूर्ण सत्ता नहीं है। कुमारिल भट्ट ने इन्द्रियों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है।[18] मूर्त्त द्रव्य का प्रत्यक्ष चक्षु और त्वक् दोनों इन्द्रियों से होता है। यह इन्द्रिय-सांकर्य का उदाहरण है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द का प्रत्यक्ष तत्तद् इन्द्रियों के द्वारा क्रमशः एक-एक से होता है। यहां इन्द्रियों की प्रवृत्ति में स्पष्ट रूप से व्यवस्था दिखाई पड़ती है। वस्तुतः द्रव्य और गुण में भेद करते हुए गुणों को द्रव्याश्रित मानने वाले सभी बौद्धेतर दार्शनिकों को द्रव्य की दृष्टि से इन्द्रिय-सम्प्लव और गुण की दृष्टि से इन्द्रिय-व्यवस्था माननी ही चाहिए। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष जातिविशिष्ट व्यक्ति को प्रकाशित करता है। मीमांसक भी थोड़े से अन्तर के साथ यही स्वीकार करते हैं। जाति-व्यक्ति, द्रव्य-गुण में समवाय-सम्बन्ध विवक्षित है। इसलिए सभी इन्द्रियों के द्वारा जाति-व्यक्ति युक्त घट के प्रत्यक्ष की व्याख्या हो जाती है। बौद्ध नैयायिक सम्बन्ध मात्र को ही असिद्ध मानते हैं। समवाय-सम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसकी नित्यता भी अनुचित ही है। सम्बन्धी ही नित्य नहीं तो सम्बन्ध की नित्यता वैसे ही व्यर्थ है। नित्य पदार्थों में सम्बन्ध के लिए अपेक्षित उपकार्य-उपकारक-भाव अनुपपन्न होने के कारण सम्बन्ध मात्र ही असिद्ध हो जाता है। प्रसिद्ध तादात्म्य सम्बन्ध भी भेद को ढंकता हुआ अभेदरूपेण अतद्व्यावृत्तिपूर्वक अनुभव में रूपायित होता है। सम्बन्ध यथार्थ नहीं, विकल्पारोपित है। विकल्प एक अविद्या-दृष्टि है। इसका उत्स आनुभविक न होकर अनुभवपूर्व होता है। सम्बन्ध की वस्तुवादी संरचना में दो सम्बन्धियों का एक सम्बन्ध से संबंधित होना अनवस्थाग्रस्त होने से पूर्णतः अयुक्त है।[19] नैयायिक इन आक्षेपों से बचने के लिए सम्बन्ध-मात्र को वस्तुनिष्ठ आधार प्रदान करते हैं। सभी सम्बन्ध बाह्य होने के कारण वस्तुगत हैं। कुछ भी आत्मनिष्ठ नहीं है। यहां तक कि वस्तुज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का ज्ञान भी एक बाह्य वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध के सम्प्रत्यय पर आधारित माना गया है। अतः विभिन्न प्रकार के वस्तुगत सम्बन्धों के ताने-बाने में बँधी सप्तपदार्थी तत्त्वमीमांसा ही वह आधार है जिससे प्रभावित होकर बौद्धेतर दार्शनिक भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रमाणों का सम्प्लव दिखाते हैं। स्वतन्त्र और प्रकार्यात्मक रूप में प्रमाणों का विनियोग भी सम्प्लववाद का समर्थन करे, यह आवश्यक नहीं है।

सामान्य अनुभव के धरातल पर प्रत्यक्ष और अनुमान का परस्पर सम्प्लवन भी विचारणीय है। दोनों प्रमाणों का परस्पर सम्प्लवन व्यावहारिक तो है लेकिन संज्ञानात्मक दृष्टि से यह संदिग्ध प्रतीत होता है। वास्तव में हम प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा क्या जानते हैं? प्रत्यक्षतः अग्नि का प्रकाशन उसके रंग, रूप और तापमान आदि के द्वारा ही हो सकता है। इनमें से कोई भी अग्नि की अनुमिति में उपलब्ध नहीं होते

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

हैं। अनुमान किसी वस्तु का विशेषरूपेण नहीं बल्कि सामान्यरूपेण ज्ञान कराता है। सभी परोक्ष प्रमाणों के प्रति ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है। यदि यह सही है तो प्रमाणसम्प्लव कहां है? प्रत्यक्षात्मक और आनुमानिक अनुभूति की संज्ञानात्मकता में पर्याप्त भेद विवक्षित है। दोनों अनुभूतियों की समानता का सम्प्रत्यय संज्ञानात्मक दृष्टि से अस्पष्ट और भ्रामक प्रतीत होता है। प्रत्यक्षतः हम किसी वस्तु को कुछ विशेषताओं के सहित जानते हैं। अनुमान के द्वारा उसी वस्तु को उन्हीं विशेषताओं के सहित नहीं जाना जा सकता है। दोनों प्रमाणों द्वारा प्राप्त स्नायविक प्रभाव एवं प्रवृत्त्याभिमुखता में भी पर्याप्त अन्तर होता है। अनुमान अन्ततः अस्तित्व की सम्भावना को ही सूचित कर सकता है।[20] अनुमिति का आधार व्याप्ति-सम्बन्ध है। व्याप्ति-सम्बन्ध आकस्मिक या निश्चित में से कोई एक ही हो सकता है। पुनः, इस आकस्मिकता या निश्चितता को तथ्यात्मक या आकारिक में से कोई एक होना चाहिए। यदि व्याप्ति-सम्बन्ध तथ्यात्मक है तो वह आकस्मिक होगा। यह विकल्प अनुमान की तथ्यात्मकता को सुनिश्चित करता है, लेकिन निष्कर्ष को सम्भाव्य बना देता है। यदि व्याप्ति-सम्बन्ध आकारिक है तो वह निश्चित होगा। वह विकल्प अनुमान के निष्कर्ष को अनिवार्य बनाता है लेकिन उसे तथ्यात्मक नहीं रहने देता है। आगमनात्मक सामान्यीकरण और सामान्यीकरण के आधार पर निर्मित सभी अस्तित्वात्मक सम्बन्ध अत्यन्त दुर्बल होते हैं। नैयायिकों का अनुमान इस तार्किक दुर्बलता से कभी मुक्त नहीं हो सकता'। इस दुर्बलता को दूर करने के लिए नव्य नैयायिकों द्वारा किया गया प्रयास भी पूर्णतः सफल नहीं है। अतः विशिष्ट प्रत्यक्षात्मक अनुभूति और केवल अस्तित्व की हामी भरने वाले अनुमान का परस्पर सम्प्लवन संज्ञानात्मक दृष्टि से उचित नहीं है।

बौद्धेतर दर्शनों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में प्रमाणसम्प्लव का विरोध शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रायः वैसे दर्शन, जो किसी न किसी रूप में अतीन्द्रिय सत्ताओं को स्वीकार करते हैं, उन्हें शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य प्रमाण-व्यवस्था को दिखाना ही पड़ता है। यही कारण है कि अद्वैतवेदान्ती तत्त्ववेदक और अतत्त्ववेदक प्रमाण का विभाजन करते हैं। ब्रह्म, जो एकमात्र परमार्थ सत् है, अपने स्वरूप में सभी आनुभविक प्रमाणों का अतिक्रमण कर जाता है। यह 'शास्त्र-योनि'[21] है। इसे केवल शब्द-प्रमाण के द्वारा ही जाना जा सकता है। जगत्-मिथ्यात्व का ज्ञान भी आनुभविक नहीं है। जगत् स्वयं ही अपने मिथ्यात्व का बोध नहीं कराता। अपने दैनिक जीवन में हम साधारण भ्रमों से भ्रमित हो जाया करते हैं। साधारण भ्रम जगत् की यथार्थता पर प्रश्न चिह्न तो खड़ा कर सकते हैं लेकिन इसके आधार पर जगत्-मिथ्यात्व का प्रतिपादन अन्तिम रूप से नहीं किया जा सकता है। अपवादी उदाहरण हमें सतर्क तो करते हैं लेकिन नियम प्रदान नहीं करते। अतएव कहा जा सकता है कि आनुभविक प्रमाण परमयथार्थता की ज्ञप्ति के

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लिए सर्वथा अपर्याप्त है। ये केवल व्यवहार की सीमा में ही क्रियाशील हो सकते हैं। परमयथार्थता में केवल आर्षप्रमाणों की ही गति होती है। यही आम्नायान्त प्रमाण-व्यवस्था है। आनुभविक तथ्यों की ज्ञप्ति के लिए 'श्रुति' की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं। हथेली पर रखे कमल को श्रुतियों से नहीं जाना जाता है। पूर्व-मीमांसकों के लिए भी 'श्रुति' ही धर्माधर्म में एकमात्र प्रमाण है। विधि का निर्धारण आनुभविक प्रमाणों के द्वारा सम्भव नहीं।[22] प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा 'अन्तिम रूप से चाहिए' के अर्थ में 'विधि' का निर्धारण करते हुए 'प्रकृतीकरण दोष' से बचा नहीं जा सकता है। इस अर्थ में विधि कोई वर्णनात्मक पद नहीं है। अतएव मीमांसकों की विचार-सरणी में भी विधि और व्यवहार का द्वैधीकरण शाब्द और शाब्देतर प्रमाणों के मध्य प्रमाण-व्यवस्था को सुनिश्चित करता है। नैयायिकों ने यद्यपि शब्द-प्रमाण की परिभाषा को ही बदल दिया है, तथापि वे भी इस आक्षेप से बच नहीं सकते हैं। वास्तव में 'ईश्वर' को शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त अनुमानादि प्रमाणों से अन्तिम रूप में नहीं जाना जा सकता। अन्ततः शब्दप्रमाण-प्रोक्त ईश्वर की सिद्धि में ही अनुमानादि प्रमाणों का विनियोग सार्थक होता है।

ऐसे ही एक विशेष दृष्टिकोण से अनुपलब्धि-प्रमाण का विनियोग और उसके विषय की व्यवस्था विचारणीय है। अभाव और प्रमाणाभाव के ज्ञान के लिए मीमांसक और वेदान्ती अनुपलब्धि-प्रमाण को एक स्वतन्त्र प्रमाण का दर्जा प्रदान करते हैं। नैयायिक अभाव को वस्तुनिष्ठ रूप से प्रत्यक्ष मानकर अभाव विषयक अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन करते हैं। किन्तु इससे प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि प्रमाण का खण्डन नहीं हो जाता है। जहां सभी प्रमाणों का अभाव हो वहां प्रमाणाभाव की ज्ञप्ति के लिए अनुपलब्धि प्रमाण मानना आवश्यक है। इतरेतर प्रमाणाभाव ज्ञापित होते हुए भी उत्तरोत्तर प्रमाणाभाव-ज्ञापन के लिए किसी ऐसे प्रमाण का विनियोग अनुपपन्न है जो इतरेतर रूप से प्रमाणाभाव को ज्ञापित कराता हो। अतः प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि और अनुपलब्धीतर प्रमाणों के मध्य भी प्रमाण-व्यवस्था दिखाई जा सकती है।

इस प्रकार बौद्धेतर प्रमाण-मीमांसीय ढांचे में प्रमाणों के त्रिविध युग्म प्राप्त होते हैं। युग्मत्रय को प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षेतर, शाब्द और शब्देतर तथा प्रमाणाभाव-विषयक अनुपलब्धि और अनुपलब्धीतर के रूप में देखा जा सकता है। ऐसे प्रमाण-युग्मों में कहीं करण का सम्प्लव न होना तो कहीं विषय की विलक्षणता प्रमाणसम्प्लव के दावे को कमज़ोर बनाता है।

प्रमाणसम्प्लव की बौद्धेतर संरचना के प्रति कुछ और भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये जा सकते हैं। आख़िर प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों को मानने की आवश्यकता ही क्या है? पुनः, प्रत्यक्ष की सहभागिता के बिना अन्य प्रमाणों का प्रस्ताव ही सम्भव कैसे है? सामान्य रूप से इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि हम विभिन्न

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमाणों का व्यवहार किया करते हैं। इस उत्तर से स्वयं ही दो आधारभूत प्रश्न उपस्थापित होते हैं। प्रथमतः, हम क्यों एक से अधिक प्रमाणों का व्यवहार करते हैं? द्वितीयतः, यदि करते भी हैं तो क्या परस्पर सम्प्लवित होने वाले प्रमाण एक-दूसरे को व्यर्थ या अनावश्यक अतिरेक नहीं बनाते हैं? क्या प्रमाणों के विषय एवं क्षेत्र की पृथक्ता को निर्धारित किये बिना इस अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति से बचा नहीं जा सकता है? इसके उत्तर में नैयायिक यह कह सकते हैं कि सभी प्रमाणों में बलाबल का भेद होते हुए भी प्रत्येक का अपना अपना महत्त्व है। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष प्रमाणों की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। परोक्ष प्रमाण व्यवहार की व्यापक सीमा को अवाप्त करते हैं। किसी सिद्धान्त के निर्माण और सत्यापन में अनुमानादि परोक्ष-प्रमाण अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होते हैं। पुनः, एक प्रमाण से ज्ञात वस्तु को दूसरे प्रमाण के द्वारा जानना व्यर्थ नहीं, क्योंकि एक ही वस्तु को विभिन्न प्रमाणों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से जाना जाता है।[23] किन्तु नैयायिकों के लिए प्रत्यक्ष प्रधान प्रमिति है।[24] मीमांसक और वेदान्ती भी प्रत्यक्ष को उपजीव्य प्रमाण मानते हैं। तब यह कहा जा सकता है कि प्रमाणों का पारस्परिक सम्प्लवन और प्रत्यक्ष की उपजीव्यता प्रत्यक्षेतर प्रमाणों में अनावश्यक अतिरेकता को आंशिक रूप से प्रस्तावित अवश्य करते हैं। प्रमाण-व्यवस्था में प्रमाणों की प्रधानता और अप्रधानता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस 'अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति' से बचने के लिए प्रमाणों के प्रकार एवं भेद को 'विषयमूलक भेद' नहीं मानकर 'प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद' माना जा सकता है। वास्तव में नैयायिकों के लिए प्रमाणों का भेद प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद ही है। यह करण-भेद से निर्धारित होता है। अतः प्रकारतामूलक ज्ञान-भेद के रूप में विभिन्न प्रमाण एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। किन्तु, ऐसा मानना भी पर्याप्त नहीं है। करण-भेद से प्रमाणों का भेद मानने का लाभ यह है कि प्रमाणों का स्वरूप विषय की स्वरूपात्मक स्थिति से स्वतन्त्र हो जाता है। यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी प्रमाणों के विनियोग को विषय की अवस्था विशेष के अधिशासन से मुक्त नहीं कहा जा सकता है। आख़िर अवस्था-विशेष पर कोई प्रमाण विशेष ही क्यों उपलब्ध होता है? सामने उपस्थित घट को हम प्रत्यक्ष से ही क्यों जानते हैं? क्यों नहीं इसके लिए हम अनुमानादि को प्रयुक्त करते हैं? इसके लिए एक प्रतिबन्धक की आवश्यकता है। यह प्रतिबन्धक वस्तु की अवस्था-विशेष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है। अतः विषयावस्था सापेक्ष प्रमाणों की उपलब्धि और विनियोग दो प्रकार के निष्कर्षों को सामने लाती है। प्रथमतः, यदि किसी वस्तु की अवस्था-विशेष में कोई एक ही प्रकार का प्रमाण प्रयुक्त होता है तो अवस्था-भेद से प्रमाण-व्यवस्था की सिद्धि होती है। द्वितीयतः, यदि किसी वस्तु की अवस्था-विशेष में एक से अधिक

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रकार के प्रमाणों की प्रयुक्ति मानी जाय तो अनावश्यक अतिरेकता-प्रसक्ति अनिवार्य हो जाती है।

वस्तुतः नैयायिकों की प्रमाण-विषयक दृष्टि पूर्णतया व्यावहारिक है। प्रमाणों का औचित्य हेयोपादेय के त्याग और ग्रहण में निहित है। हेयोपादेय व्यवहार के लिए सम्प्लव आवश्यक है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि व्यवस्था को नकार दिया जाय। वात्स्यायन[25] ने प्रमाण-सम्प्लव और व्यवस्था दोनों को स्वीकार किया है। प्रमाण-सम्प्लव के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आत्मा आप्तोपदेश-रूप शब्द प्रमाण-गम्यं है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्नादि लिङ्गपूर्वक आत्मा का अनुमान सम्भव है। आत्मनः सम्बन्ध-विशेष से आत्मा सद्यः प्रत्यक्ष का विषय है। मनोयोगपूर्वक आत्मबोध योगसमाधिज प्रत्यक्ष है। प्रमाण-व्यवस्था के लिए भी निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' आगम-प्रमाण है। इसका लौकिक प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञान सम्भव नहीं है। मेघ की गर्जना सुनने पर ध्वनिहेतुक अनुमान के बदले प्रत्यक्ष और आगम-प्रमाण अनुपपन्न है। हस्तस्थ आमलक के लिए अनुमान और आगम-प्रमाण अनावश्यक है। इस प्रकार एक ही प्रमाण-मीमांसीय ढांचे में प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की उभय स्वीकृति से कुछ निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। प्रथम दोनों सिद्धान्त एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। द्वितीय, व्यवहार दोनों को आत्मसात् करता है। तृतीय, प्रमाणों को प्रकारतामूलक ज्ञानभेद मानकर सम्प्लव और व्यवस्था दोनों दिखाये जा सकते हैं।

यहां ध्यातव्य है कि उपर्युक्त निष्कर्ष केवल प्रमेयों के ज्ञान के संदर्भ में ही उचित है। सम्प्लव और व्यवस्था का प्रश्न स्वयं प्रमाणों के सन्दर्भ में उठाया जा सकता है। नैयायिकों ने प्रमाणों को भी एक दृष्टि से प्रमेय-कोटि में परिगणित किया है। सूत्रकार गौतम[26] ने प्रमाणों की तुलना 'तराजू' से करते हुए यह दिखाया है कि किस प्रकार प्रत्यक्षादि 'उपलब्धि हेतु' होने से 'प्रमाण' और 'उपलब्धि विषय' होने से 'प्रमेय' हो जाते हैं। प्रश्न उठता है कि प्रमाणों का ज्ञान प्रमाणान्तर से होता है या प्रमाणान्तर के बिना वे स्वयं ही गृहीत होते हैं? नैयायिकों[27] ने इस प्रश्न के उत्तर में अनवस्था दोष से बचने के लिए 'प्रदीप-प्रकाश' का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है। 'प्रदीप-प्रकाश' स्वयं दृश्य होता हुआ दृश्यान्तर का हेतु बनकर दृश्य-दर्शन-भाव को प्राप्त होता है। ऐसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रत्यक्षादिकों से ही गृहीत होते हुए अन्य के ग्राहक होते हैं। प्रमाणों को जानने के लिए न तो प्रमाणान्तर की आवश्यकता है, न प्रमाणान्तर के बिना यह असाधन ही है। प्रत्येक प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु को जानते हुए इसका भी ज्ञान होता है कि यह किस प्रमाण के द्वारा जानी जा रही है। अतः प्रमेयरूपेण प्रमाणों के ज्ञान के सन्दर्भ में नैयायिकों को प्रमाण-सम्प्लववादी नहीं कहा जा सकता है। वैसे दर्शन, जो प्रमाणों को प्रमेय-कोटि में नहीं रखते, उनके लिए यह प्रश्न ही नहीं उठता है। वस्तुतः सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में प्रमाणों के ज्ञान के लिए

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रमाणान्तर का विधान न करते हुए, अनुव्यवसाय, स्वसंवेदन और स्वयंप्रकाशता आदि के द्वारा इसकी व्याख्या की गई है।

अन्ततः प्रमाणसम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था की समस्या अपनी प्रकृति में तत्त्वमीमांसीय है। क्या बनाना है, इस बात को ध्यान में रखे बिना जैसे किसी औजार को नहीं बनाया जा सकता है, वैसे ही तत्त्वमीमांसीय अधिशासन से मुक्त प्रमाणमीमांसा सम्भव भी नहीं है। यह अधिशासन प्रमाणों के स्वरूप को निर्धारित करने के साथ-साथ प्रमाणों के विनियोग को भी अभिप्रेरित करता है। उदाहरण के लिए अधिकांश बौद्धेतर दार्शनिक निराकार ज्ञानवादी हैं। निराकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञानगत आकार बाह्य विषयों के होते हैं।[28] बुद्धि इन्हें यथावत् ग्रहण करती है। ज्ञान को निराकार मानने पर ज्ञानभेद के साथ-साथ वस्तुभेद मानना आवश्यक नहीं है। एक ही वस्तु प्रत्यक्ष और परोक्षादि विभिन्न माध्यमों से ज्ञान में अपना आकार अर्पित कर सकती है। निराकार ज्ञानवाद में करणभेद से प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रमाणभेद और प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप की व्याख्या हो जाती है। किन्तु सामान्य और विशेषीकृत व्यवहार की अनुमत सीमा में कहीं-कहीं व्यवस्थापरक प्रमाण-विनियोग की आवश्यकता को भी नकारा नहीं जा सकता है। अतः बौद्धेतर तत्त्वमीमांसीय संरचना निराकार ज्ञानवादी दृष्टि से प्रमाणों को सम्प्लवात्मक स्वरूप तो प्रदान करती है किन्तु व्यवहार-सम्मत प्रमाण-विनियोग के लिए सम्प्लव और व्यवस्था दोनों का अनुमोदन करती है। बौद्ध नैयायिक साकार ज्ञानवादी हैं। साकार ज्ञानवाद के अनुसार ज्ञानगत आकार बाह्य वस्तुओं के द्वारा प्रक्षिप्त नहीं बल्कि ज्ञान में ही अन्तर्निहित होते हैं। यही ज्ञानगत आकार तथाकथित बाह्य वस्तुओं का सम्पूर्ण सारांश है। अतएव साकार ज्ञानवाद में ज्ञानभेद से वस्तुभेद आवश्यक रूप में विवक्षित होता है। ज्ञान-भेद से पृथक् एवं परे वस्तुभेद की कोई भावस्थिति ही नहीं है। इसलिए बौद्ध नैयायिकों की तत्त्वमीमांसीय संरचना में प्रमाणों का व्यवस्थापरक विनियोग आवश्यक हो जाता है। प्रमाणों का ऐसा स्वरूप उनके व्यवहार-सम्मत विनियोग में भी कायम रहता है।

प्रमाण-सम्प्लव और प्रमाण-व्यवस्था के तत्त्वमीमांसीय उत्स को एक-दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है। वैसे सभी दार्शनिक सम्प्रदाय, जिनमें सत्ता की मीमांसा द्विविध स्तरों पर की जाती है, उन्हें किसी न किसी रूप में अनुभवपूर्व अविद्या की सक्रिय भूमिका को स्वीकार करना पड़ता है। यथा—बौद्धों और वेदान्तियों ने पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप में सत्ता का द्वैधीकरण अपने अपने ढंग से किया है। द्वैधीकृत सत्ता की तत्त्वमीमांसीय प्रकृति में भेद होते हुए भी तत्तद् दर्शनों की प्रमाण-मीमांसीय योजना में उसे समायोजित करने के लिए प्रमाणों का स्तरीकरण आवश्यक हो जाता है। वास्तव में प्रमाण-व्यवस्था सत्ता के द्वैधीकरण को प्रमाणों के स्तरीकरण में दिखाने का ही प्रमाण-मीमांसीय प्रयास है। वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा में अविद्या या विकल्प की प्रागनुभविक सक्रिय भूमिका को स्वीकार नहीं किया जाता है। नैयायिकों और मीमांसकों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

की दृष्टि में कुछ भी काल्पनिक रूप से संरचित नहीं है। यही कारण है कि वस्तुवादी दार्शनिक भ्रम और विभ्रमों को भी व्याख्यायित करने के लिए अन्यथाख्याति, अख्याति और विपरीतख्याति जैसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इस रूप में प्रमाणसम्प्लव उनके लिए एक सहायक सिद्धान्त बन जाता है। उदाहरणार्थ अन्यथाख्यातिवाद के अनुसार तथाकथित भ्रमात्मक वस्तुएं सर्वथा असत् नहीं होती हैं। भ्रमस्थल पर भी उनका ज्ञान 'ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ती' प्रत्यक्ष से होता ही है। यह बात अलग है कि प्रमाणों के सम्प्लवात्मक स्वरूप का ऐसा विस्तार बहुत कुछ अन्य सहकारी शर्तों की अपेक्षा रखता है।

V

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षात्मक रूप में यह कहा जा सकता है कि कोई भी प्रमाणमीमांसा अपने तत्त्वमीमांसीय संरक्षण में ही विकसित और पल्लवित होती है। यही कारण है कि प्रमाणमीमांसा की अनुमत सीमा में उठने वाले अधिकांश प्रश्न अन्ततः तत्त्वमीमांसीय भेदों को ही उद्घाटित करते हैं। प्रमाणसम्प्लव और व्यवस्था का विवाद भी तत्त्वमीमांसीय लंगर से बंधी हुई समस्या है। यह बौद्धेतर वस्तुवादी तत्त्वमीमांसा की उदारता है कि वह प्रमाणों की सम्प्लवात्मक प्रकृति को अनुमोदित करते हुए उनके व्यवस्थापरक विनियोग का विरोध नहीं करता है। वहीं बौद्ध नैयायिकों की प्रमाणमीमांसा पर तत्त्वमीमांसा का इतना कठोर अनुशासन है कि वह उन्हें प्रमाण-व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ स्वीकार नहीं करने देता है। वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय नियामकता में प्रमाणों का अपनी-अपनी प्रस्थिति और भूमिका में रूढ़ हो जाना उनकी नियति है। प्रत्येक तत्त्वमीमांसा के अपने ही तर्क और प्रमाण होते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विभिन्न प्रकार के तत्त्वमीमांसीय अधिशासनों से युक्त भिन्न-भिन्न प्रमाणमीमांसीय योजनाओं के द्वारा हमारे लोकानुभव और व्यवहार को निर्देशित किया जाता है। हां, विभिन्न प्रकार की प्रमाण-मीमांसीय योजनाएं लोकानुभव और व्यवहार को ससम्मान विवेचित और व्याख्यायित करते हुए एक 'दृष्टिविशेष' से उसे संस्कारित तो अवश्य ही करते हैं।*

---

* प्रस्तुत निबन्ध विषयक महत्त्वपूर्ण सुझावों के लिए लेखक प्रोफेसर ए. के. चटर्जी और प्रोफेसर पी. के. मुखोपाध्याय के प्रति आभारी हैं।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पाद-टिप्पणियाँ

1. श्चर्बात्स्की—**बौद्धन्याय**—हि. अनु. — रामकुमार राय, पृ. 647, चौ. वि. भ. वाराणसी।
2. **न्या. भा.**, 1.2.3 'प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसम्प्लवः असम्भवो व्यवस्येति।'
3. **प्रमा. वा.** 2.1 'मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात्'।
4. **प्रमा. वा.**, 2.53-54. 'मेयं त्वेकं स्वलक्षणं . . . स्वपररूपाभ्यां गतेर्मेयद्वय मतम्।'
5. **न्या. वि.**, 1.12. 'द्विविधो हि विषयः प्रमाणस्य – ग्राह्यश्च यदाकारमुत्पद्यते, प्रापणीयश्च यमध्यवस्यति।
6. **आन्वीक्षिकी**—अंक 6, जुलाई-अक्तूबर, 1973, दर्शन विभाग, ब॰हि॰वि॰वि., पृ. 189
7. **प्रमा. वा.** (मनो.), 2.2. "सर्वस्य संग्रहात् द्वैविध्यमेव"
8. **प्रमा. वा.** 2.1.2
   मानं द्विविधं विषय-द्वैविध्यात् शक्त्यशक्तितः।
   अर्थक्रियायां केशादिर्नार्थोऽनर्थाधिमोक्षतः।
   सदृशासदृशत्वाच्च विषयाविषयत्वतः।
   शब्दस्य अन्यनिमित्तानां भावे धी सदसत्त्वतः॥
9. **न्यायमंजरी**, आ. 1, प्रमा. प्र., "प्रमाणद्वयसिद्धे च विषयद्वयवेदने। वद कस्यानुरोधेन तृतीयं मानमिष्यताम्'?
10. अकलङ्क-**प्रमाणान्तर्भाव**—"प्रत्यक्षं अनुमानं च प्रमाणमिदमेव हि। प्रमाणसम्प्लवायोगात् प्रमेयद्वय संगतेः॥"
11. **प्रमा. वा.**, 2.63, 64
    न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य सम्भवः।
    तस्मात् प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते॥
    त्रयेकसंख्यानिरासो वा प्रमेयद्वयदर्शनात्।
    एकमेवाप्रमेयत्वाद् सतश्चेन्मतं च नः॥
12. **प्रमा. वार्तिकालङ्कारभाष्य**, 2.63.64, "स्वाकारद्वयसंवेदने हि नैकमितियुक्तम्। नापिअध्यादिकम्।"
13. **वही**, प्रमाणस्वरूपन्तु स्वयंवेदनाकारसिद्धेः।
14. द्रष्टव्य — "प्रमाणान्तर्भाव प्रकरण-विमर्श", डॉ. अम्बिकादत्त शर्मा, **दार्शनिक त्रैमासिक**, अंक 1-4, 1991-92, संयुक्तांक।
15. **प्रमाणवार्त्तिकम्, वार्त्तिकालङ्कारभाष्य सहित**, हि. अनु., स्वामीयोगीन्द्रानन्द षड्दर्शन प्रका. संस्थान, वाराणसी, पृ. 413 ननु प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणो विषयभेदः केन प्रमाणेन प्रतीयते। किं प्रत्यक्षानुमानेन प्रमाणान्तरेण वा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

16. वही, पृ. 414 अत्रोच्यते—विषयद्वैविध्यंप्रत्यक्षत एव सिद्धम्। सदृशासदृशप्रतीतिर्हि प्रतीतेरेव धर्मः स च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः। न च प्रतीतिः स्वरूपे भ्रान्तिसङ्गता, तत्र भ्रान्तिशङ्कायामव्यवहार एव भवेदनवतारहेतुर्वा वादिप्रतिवादिप्राश्निकवचनस्य।
17. न्या. भा., 1.2.3 सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते, लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतोदिदृक्षते, प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणं — 'अग्नि'।
18. श्लो. वा., प्रत्यक्षगतधर्मानिमित्तत्वसूत्रम्, 170. 'तस्मात् पंचभिरप्यक्षैर्बोधः सत्तागुणत्वयोः। द्रव्यभूतो पुनः द्वाभ्यां रूपादावेकशः स्थितः॥
19. धर्मकीर्ति, सम्बन्ध-परीक्षा 4
द्वयोरेकाभिसंबंधात् संबंधो यदि तद्द्वयोः
कः संबंधोऽनवस्था च न संबंधमतिस्तथा।
20. बृह. उप. शां. भा. आनन्दगिरि टीका, "सम्भावनामात्रेण लिङ्गोपन्यासः। न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते।"
21. ब्र. सू. (चतुःसूत्री), 1.4, शास्त्रयोनित्वात्। शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या 'शास्त्रस्य योनिः' और 'शास्त्रं योनिर्यस्य' दो रूपों में की है।
22. मी. सू. 1.1.4, भाष्यकार शबरस्वामी ने धर्म में प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपर्याप्तता बताने के लिए 'धर्मस्य भाव्यत्वाद्वर्तमानैकदेशित्वादिन्द्रियस्य' कहा है।
23. न्या. वा., 1.1.1 'अधिगतत्वाद् वैयर्थमिति, न अन्यथा तदधिगतेः।
24. न्या. भा., 1.1.3, 'सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा।'
25. न्या. भा. 1.1.3 किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसम्प्लवन्ते अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति। उभयथादर्शनम्।
26. न्या. सू., 2. 1.6, प्रमेयता च तुला प्रमाप्यवत्।
27. न्या. सू. 2.1.19, न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः।
28. शाबरभाष्य, 1.1.2
निराकारा च नो बुद्धिः आकारवान् बाह्योऽर्थः।

धर्म एवं दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्यायमंजरी

अनुवादक : सिद्धेश्वर भट्ट एवं शशिप्रभा कुमार

भारतीय दर्शन-परम्परा में न्यायशास्त्र का और न्यायशास्त्र के इतिहास में जयन्तभट्टप्रणीत **न्यायमंजरी** का महत्त्व सर्वथा अप्रतिम है। भारतीय दर्शन को प्रामाणिक, व्यवस्थित एवं तर्कसंगत स्वरूप प्रदान करने में जिस वादविद्या का अपूर्व योगदान रहा वह न्यायशास्त्र की ही देन है। उसके महत्त्व का मूल्यांकन इसी तथ्य से हो सकता है कि सभी प्रतिपक्षी विद्वान् भी अपने मत-प्रकाशन हेतु इस न्यायविद्या का ही आश्रय लेते हैं। 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः' के अनुसार प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व या प्रमेय की परीक्षा करना ही न्याय है। किन्तु 'मानाधीना मेयसिद्धिः' के आधार पर प्रमाणों का अध्ययन प्रमेय से पूर्व ही होना चाहिए।

इसीलिए प्रमाणविद्या न्यायशास्त्र में प्रमेय से पूर्व प्रमाणों के स्वरूप, संख्या आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। तदनन्तर प्रमेय एवं अन्य पदार्थों का निरूपण हुआ है। वस्तुवादी और अनुभववादी होने के कारण न्यायदर्शन प्रमेय को महत्त्वपूर्ण मानने पर भी प्रमाण से पृथक् उसकी वस्तुगत सत्ता प्रतिपादित करता है एवं बौद्धों के विज्ञानवाद का प्रबल खण्डन करता है। वस्तुतः मध्यकालीन न्यायदर्शन एवं उसका प्रमाण-विचार बौद्ध सिद्धान्तों के विरोधस्वरूप ही पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है।

न्यायमंजरीकार जयन्तभट्ट इसी मध्यकालिक न्याय-परम्परा के प्रौढ़, प्रखर विद्वान् हैं जिन्होंने बौद्ध दार्शनिकों के साथ हुए नैयायिकों के संघर्ष को पूर्ण निष्ठा से निरूपित किया है तथा कुछ नवीन, मौलिक सिद्धान्त भी संकेतित किये हैं। उन्होंने दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति, धर्मोत्तर आदि बौद्ध आचार्यों द्वारा न्याय-सिद्धान्तों के विषय में किये गये आक्षेपों का युक्तिपूर्वक समाधान कर न्यायदर्शन की प्रतिष्ठा को पुनः सुदृढ़ बनाया। उनकी व्यापक एवं उदार दृष्टि प्रतिपक्षियों के सिद्धान्तों का भी समग्र एवं वस्तुनिष्ठ विवेचन करती है, यह वस्तुतः श्लाघ्य है।

पदवाक्यप्रमाण-पारावरीण, व्याकरण, मीमांसा और न्याय तीनों शास्त्रों के पारंगत, 'जरन्नैयायिक' जयन्त भट्ट ने अपनी **न्यायमंजरी** मुख्यतः न्यायसूत्रों की विवृति के रूप में लिखी है। यद्यपि यहां सारे न्यायसूत्रों का नामोल्लेखपूर्वक क्रमिक व्याख्यान तो नहीं है किन्तु सूत्रों में निर्दिष्ट सभी विषयों की चर्चा एवं तत्संबद्ध विभिन्न वादियों के मतभेदों एवं विप्रतिपत्तियों का अत्यन्त विस्तृत, विश्वसनीय विवेचन तथा फिर अत्यन्त रोचक रीति से निराकरण भी किया गया है। इस संदर्भ में बौद्धमत के साथ-साथ यथास्थल चार्वाक, सांख्य, मीमांसा एवं वेदान्त इन सभी के सिद्धान्तों को पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यस्त कर उनका खण्डन तथा न्याय-सिद्धान्तों का मण्डन ही ग्रन्थकार को अभीष्ट है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्यायमंजरी के द्वादश आह्निकों में न्यायशास्त्र-सम्मत षोडश पदार्थों का प्रमुखतः 'प्रमाण' एवं 'प्रमेय' इन्हीं दो प्रकरणों में निरूपण है। इसके प्रमेय प्रकरण में समानतन्त्र वैशेषिक दर्शन के पदार्थों का भी विशद विवेचन है। इसलिए यह ग्रन्थ परमतनिरासपूर्वक न्याय-वैशेषिक के पदार्थ-परिशीलन में अत्यन्त सहायक है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन-परम्परा में इसे वही पदवी प्राप्त है जो कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्त्तिक एवं धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्त्तिक की है। अतः इसकी उपादेयता असन्दिग्ध है।

प्रतिपाद्यगत महत्त्व के अतिरिक्त **न्यायमंजरी** का अपूर्व वैशिष्ट्य जयन्तभट्ट के विस्मयोत्पादक वैदुष्य तथा रोचक, सटीक लेखन-शैली में भी निहित है। गहन-गम्भीर एवं दुरूह तार्किक विषयों को साहित्यिक, सरस, सरल एवं मनोरंजक-रीति से प्रस्तुत करना उनकी असाधारण विशेषता है, जिसके द्वारा पाठक उनकी सभी युक्तियों को सुचारुतया हृदयंगम कर सकते हैं और न्याय जैसे शुष्क, जटिल विषय में उन्हें अरुचि या नीरसता भी अनुभव नहीं होती। दूसरे, हृदय से सच्चे, दुर्धर्ष नैयायिक होने पर भी सर्वथा उदार दृष्टि से प्रतिपक्षियों के मतों को समझना, समझाना एवं तत्पश्चात् उनका तर्कपूर्ण खण्डन करना जयन्तभट्ट का महान् गुण है। उनके इसी गुण के कारण **न्यायमंजरी** न केवल न्यायदर्शन का, अपितु सभी भारतीय दर्शनों के मूल सिद्धान्तों का आकरग्रन्थ बन गया है।

किन्तु यह बड़े खेद का विषय है कि आज की शिक्षा-प्रणाली में ऐसे प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों के विधिवत् अध्ययन-अध्यापन की परम्परा लुप्त होती जा रही है। आज के सरलताप्रिय विद्यार्थी भी इन मूल ग्रन्थों के अध्ययन-हेतु प्रवृत्त नहीं होते। अतः महती आवश्यकता है कि इन ग्रन्थों के विशद, व्याख्यासंवलित संस्करण लोकभाषा हिन्दी में सुलभ कराये जायें ताकि भारतीय दर्शन के आरंभिक अध्येता भी उनमें प्रतिपादित विशिष्ट, महत्त्वपूर्ण विषयों को हृदयंगम कर सकें। देवभाषा संस्कृत में सुरक्षित इस महान् शेवधि को लोकोपयोगी बनाने का अन्य कोई उपाय अब अवशिष्ट नहीं रह गया है। आज तक **न्यायमंजरी** का ऐसा एक भी संस्करण सामने नहीं आया है। इसलिए विद्यार्थियों को ध्यान में रखकर ही हमने इस विशाल कार्य को हाथ में लिया है तथा उन्हीं की दृष्टि से यह अनुवाद एवं व्याख्या लिखने का प्रयास प्रवर्तमान है। यही कारण है कि यह मात्र शब्दानुवाद नहीं है, यत्र-तत्र भावानुवाद भी करना पड़ा है। विद्यार्थियों की सुविधा हेतु हमने मूल ग्रन्थ को खण्डशः हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ रखा है तथा आशय को स्पष्ट करने के लिए यत्र-तत्र कोष्ठकों में या पादटिप्पणी में विस्तार दे दिया है। उल्लेखनीय है कि अब तक **न्यायमंजरी** के निम्न चार संस्करण हमारी दृष्टि में आये हैं—

(1) ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, मैसूर से 1969 में प्रकाशित (दो भागों में)। संपादक एवं संस्कृत टिप्पणीलेखक के. एस. वरदाचार्य।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(2) एल. डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, अहमदाबाद से 1971 में प्रकाशित (नवम आह्निक तक)। संपादक एवं गुजराती में अनुवाद लेखक नगीन जी. शाह।

(3) चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी से 1971 में प्रकाशित (दो भागों में), संपादक एवं टिप्पणीकर्त्ता पंडित सूर्यनारायण शुक्ल।

(4) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से 1984 में प्रकाशित (तीन भागों में) चक्रधरविरचित 'ग्रन्थिभंग' संस्कृत व्याख्या से संवलित, संपादक एवं भूमिका लेखक डॉ॰ गौरीनाथ शास्त्री।

जयन्त भट्ट के व्यक्तित्व एँव काल-निर्णय के विषय में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वे कश्मीरी ब्राह्मण-परिवार में जन्मे थे। उनके प्रपितामह शक्तिस्वामी कश्मीर के राजा मुक्तापीड़ के दरबार में मंत्री थे और वैदिक विद्वान् थे। शक्तिस्वामी के पुत्र और जयन्त भट्ट के पितामह कल्याणस्वामी योगविद्या के ज्ञाता थे, उनके पुत्र का नाम चन्द्र था और चन्द्र के पुत्र जयन्त भट्ट थे। जयन्त भट्ट वेदों के मर्मज्ञ विद्वान् एवं मीमांसा के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्हें 'वृत्तिकार' भी कहा जाता है क्योंकि उन्होंने न्यायसूत्रों पर **न्यायमंजरी** रूप वृत्ति लिखी। आस्था से जयन्त भट्ट शैव थे क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में और अन्त में शिव की स्तुति की है। जयन्त भट्ट का काल नवीं शती का अन्तिम भाग या दसवीं शती का आरंभिक भाग माना जाता है।

न्यायमंजरी के विषय में एक विचित्र और विशिष्ट तथ्य उल्लेख्य है कि जयन्त भट्ट ने अपने इस ग्रन्थ की रचना राजकीय कारागृह में की थी—उनके बन्दी बनाये जाने का कारण क्या था, यह तो ज्ञात नहीं, किन्तु उन्होंने स्वयं इस तथ्य का निर्देश किया है कि वे अपने ग्रन्थ की रचना कारागार की अशब्द, अँधेरी कोठरी में कर रहे हैं—

राज्ञा तु गह्वरेऽस्मिन्नशब्दके बन्धने विनिहितोऽहम्।
ग्रन्थरचनाविनोदादिह हि मया वासरा गमिताः ।।भाग एक, पृ. 363

तथापि यह अत्यन्त प्रशंसनीय है कि वे न तो अपने आश्रयदाता का नामोल्लेख करते हैं और न ही उसकी निर्दयता का संकेत करते हैं—इससे भी उनकी उदारता एवं सदाशयता सूचित होती है। राजकीय कारागृह में सभी सुविधाओं और स्रोतों से वंचित होने पर भी जयन्त भट्ट ने जिस व्यापक वैदुष्यपूर्ण, अमूल्य आकरग्रन्थ की रचना की है, वह वास्तव में आश्चर्यजनक है तथा भारतीय न्यायशास्त्र के क्षेत्र में उसका समुचित प्रचार एवं मूल्यांकन तभी हो सकेगा ज़ब वर्तमान अध्येता उसके मर्म को हृदयंगम कर सकें। इसी आशा एवं भावना के साथ **न्यायमंजरी** का हिन्दी अनुवाद विद्वानों की सेवा में समर्पित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

न्यायमंजरी

मंगलाचरणम्

नमः शाश्वतिकानन्दज्ञानैश्वर्यमयात्मने ।
संकल्पसफलब्रह्मस्तम्बारम्भाय शम्भवे ॥1 ॥
नमामि यामिनीनाथलेखालंकृतकुन्तलाम् ।[1]
भवानी भवसन्तापनिर्वापणसुधानदीम् ॥2 ॥
सुरासुरशिरोरत्नमरीचिखचिताङ्घ्रये ।
विघ्नान्धकारसूर्याय गणाधिपतये नमः ॥3 ॥
जयन्ति पुरजिद्दत्तसाधुवादपवित्रिताः ।
निधानं[2] न्यायरत्नानां अक्षपादमुनेर्गिरः ॥4 ॥

नित्य आनन्द, ज्ञान और ऐश्वर्यस्वरूप अपने संकल्पमात्र से तृण से लेकर विराट् पुरुष ब्रह्मा तक सृष्टि के सर्जक भगवान् शिव को प्रणाम है ॥1 ॥ जिनके केश चन्द्रमा की किरणों से अलंकृत हैं[3] और जो संसार के दुःखों को मिटाने में अमृत की नदी के तुल्य हैं, ऐसी भवानी पार्वती को मैं प्रणाम करता हूं ॥2 ॥

जिनके चरण देवों और दानवों के (झुके हुए) मस्तकों पर स्थित मणिजटित मुकुटों में से निकलती हुई किरणों से प्रकाशित हैं और विघ्नरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य के समान हैं, उन गणपति को नमस्कार है ॥3 ॥

उन अक्षपाद मुनि के वचन विजयी हों जो भगवान् शिव द्वारा दिये गये आशीर्वादों[4] से पवित्र हैं और न्यायशास्त्र के रत्नों की निधि (आदिस्रोत) हैं ॥4 ॥

ग्रन्थावतरण

अक्षपादमताम्भोधिपरिमर्ष[5] रसोत्सुकाम् ।
विगाहन्तामिमां सन्तः प्रसरन्तीं सरस्वतीम् ॥5 ॥
नानागुणरसास्वादखिन्नापि विदुषां मतिः ।
आलोकमात्रकेणेममनुगृह्णातु नः श्रमम् ॥6 ॥
न्यायौषधिवनेभ्योऽयमाहृतः परमो रसः ।
इदमान्वीक्षिकीक्षीरान्नवनीतमिवोद्धृतम् ॥7 ॥
कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः ।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र[6] विचार्यताम् ॥8 ॥
तैरेव कुसुमैः पूर्वमसकृत्कृतशेखराः ।
अपूर्वरचने दाम्नि दधत्येव कुतूहलम् ॥9 ॥
यद्वा निर्गुणमप्यर्थम् अभिनन्दन्ति साधवः ।
प्रणयिप्रार्थनाभंगसंविधानामशिक्षिताः[7] 10 ॥
तदियं वाङ्मयोद्यानलीलाविहरणोद्यतैः ।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

विदग्धैः क्रियतां कर्णे चिराय न्यायमंजरी ॥11 ॥
अक्षपादप्रणीतो हि विततो न्यायपादपः ।
सान्द्रामृतरसस्यन्दफलसन्दर्भनिर्भरः ॥12 ॥
वयं मृदुपरिस्पन्दाः तदारोहणपंगवः ।
न तद्विभूतिप्राग्भारमालोकयितुमप्यलम् ॥13 ॥
तदेकदेशलेशे तु कृतोऽयं विवृतिश्रमः ।
तमेव चानुगृहणन्तु सन्तः प्रणयवत्सलाः ॥14 ॥
असंख्यैरपि नात्मीयैः अल्पैरपि परस्थितैः
गुणैस्सन्तः प्रहृष्यन्ति चित्रमेषां विचेष्टितम् ॥15 ॥
परमार्थभावनाक्रमसमुन्मिषत्पुलकलांछितकपोलम् ।
स्वकृतीः प्रकाशयन्तः पश्यन्ति सतां मुखं धन्याः ॥16 ॥

अक्षपाद मुनि के विचार (रूपी) सागर में आलोडन कर रसपान के लिए उत्कण्ठित सज्जन लोग इस प्रवाहित होती हुई सरस्वती में अवगाहन करें ॥5 ॥

विद्वानों की मति अनेक प्रकार के गुणों का रस आस्वादन करने से श्रान्त होने पर भी हमारे इस परिश्रम (साध्य ग्रन्थ) को केवल दृष्टिपात से अनुगृहीत करे ॥6 ॥

यह (ग्रन्थ) न्यायरूपी औषधियों के वनों से लाया गया परम रस है तथा 'आन्वीक्षिकी' रूपी दुग्ध से (मथकर) निकाले गये नवनीत के समान हैं ॥7 ॥

हम नवीन वस्तु की उद्भावना करने में समर्थ कहां हैं? यहां तो केवल वाणी के विन्यास की विचित्रता ही कृपया विचारिये ॥8 ॥

पहले अनेक बार मस्तक पर धारण किये हुए फूलों से गुंथी होने पर भी नये ढंग से गूंथी जाने वाली माला कौतूहल तो पैदा करती ही है ॥9 ॥

स्नेही जनों की प्रार्थनाओं को अस्वीकार करने की विधि जिन्होंने सीखी ही नहीं, ऐसे सज्जन गुणों से रहित वस्तु का भी अभिनन्दन करते हैं ॥10 ॥

वाङ्मयरूपी उद्यान में आनन्दपूर्वक विचरण करते हुए विद्वान् जन इस **न्यायमंजरी** को चिरकाल तक अपना कर्णाभूषण बनायें ॥11 ॥

अक्षपादमुनि द्वारा रोपित यह विशाल न्याय (शास्त्ररूपी) वृक्ष घने, अमृतरसवर्षी फलों (सिद्धान्तों) और सन्दर्भों (पूर्वाचार्य-प्रणीत ग्रन्थों) से भरा हुआ है ॥12 ॥

मन्दगति वाले (हम) उस (विशाल वृक्ष) पर चढ़ने में पंगु (के समान असमर्थ) हैं और उस वृक्ष की विभूति के प्राचीन गौरव को देखने में भी हम समर्थ नहीं हैं ॥13 ॥

अतः उसी न्यायशास्त्र के एक भाग के अंशमात्र की व्याख्या हेतु यह श्रम किया जा रहा है, स्नेही सज्जन (पाठक) उसे ही (पढ़कर) अनुगृहीत करें ॥14 ॥

सज्जन व्यक्ति अपने में असंख्य गुण होने पर भी आनन्दित नहीं होते, परन्तु दूसरों के स्वल्प गुण होने पर भी वे प्रसन्न होते हैं—यही उनके स्वभाव की विचित्रता है ॥15 ॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

धन्य हैं वे (लेखक जन) जो अपनी कृतियों को सज्जन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत होने पर उन कृतियों के तात्त्विक अर्थ को क्रमबद्ध रूप से समझने के कारण उन पाठकों के प्रसन्नता से पुलकित (ईर्ष्यारहित) मुखों को देखते हैं ॥16॥

शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन

इह प्रेक्षापूर्वकारिणः पुरुषार्थसम्पदमभिवांछन्तः तत्साधनाधिगमोपायमन्तरेण तदवाप्तिममन्यमानास्तदुपायावगतिनिमित्तमेव प्रथममन्वेषन्ते। दृष्टादृष्टभेदेन च द्विविधः पुरुषार्थस्य पन्थाः। यस्य दृष्टे विषये रुचिः तस्य प्ररूढव्यवहारसिद्धावन्वयव्यतिरेकाधिगत-साधनभावे भोजनादावनपेक्षितशास्त्रस्यैव भवति प्रवृत्तिः। न हि 'मलिनः स्नायात्' 'बुभुक्षितो वाऽश्नीयात्' इति शास्त्रमुपयुज्यते। अदृष्टे तु स्वर्गापवर्गमात्रे नैसर्गिकमोहान्धतमस-विलुप्तालोकस्य लोकस्य शास्त्रमेव प्रकाशः। तदेव सकलतदुपायदर्शने दिव्यं चक्षुरस्मदादेर्न योगिनामिव योगसमाधिजज्ञानाद्युपायान्तरमपीति। तस्मादस्मदादेः शास्त्रमेवाधिगन्तव्यम्।

इस संसार में विवेकी जन (पहले विचार कर कर्म करने वाले) पुरुषार्थरूपी सम्पदा को प्राप्त करने की अभिलाषा से उसके साधन एवं साध्य के उपायों के ज्ञान के बिना उसकी प्राप्ति को असम्भव समझते हुए सर्वप्रथम उन उपायों के अन्वेषण हेतु ही प्रवृत्त होते हैं। वह पुरुषार्थ का मार्ग दृष्ट और अदृष्ट के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से दृष्ट विषय में रुचि तो सम्मान्य वृद्धजनों के आचरण से ही अन्वय-व्यतिरेक[8] द्वारा हो जाती है तथा भोजन आदि में प्रवृत्ति शास्त्र (ज्ञान) के बिना ही सिद्धसाधनभाव[9] से हो जाती है। क्योंकि 'मलिन होने पर स्नान करें', 'भूखा होने पर भोजन करें' आदि विषयों में शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु केवल स्वर्ग-अपवर्ग आदि जैसे अदृष्ट विषयों में स्वाभाविक अज्ञानरूपी अन्धकार से ग्रस्त संसार के (जनों के) लिए शास्त्र ही प्रकाश है, वही समस्त शुभ उपायों के दर्शन हेतु दिव्य चक्षु है, क्योंकि हम जैसे (साधारण) जनों के पास योगियों जैसा समाधिलभ्य ज्ञानादि कोई दूसरा उपाय तो है नहीं, अतः हमें शास्त्र का ही अध्ययन करना चाहिए।

शास्त्रों का विभाजन : वेद, धर्मशास्त्र, इतिहासपुराण

तच्च चतुर्दशविधं यानि विद्वांसश्चतुर्दश विद्यास्थानान्याचक्षते।

तत्र वेदाश्चत्वारः प्रथमोऽथर्ववेदः,[10] द्वितीय ऋग्वेदः, तृतीयो यजुर्वेदः, चतुर्थः सामवेदः। एते चत्वारो वेदाः साक्षादेव पुरुषार्थसाधनोपदेशस्वभावाः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'आत्मा ज्ञातव्य'[11] इत्यादि श्रुतेः।

स्मृतिशास्त्रमपि मन्वाद्युपनिबद्धमष्टकाशिखाकर्मप्रपाप्रवर्त्तनादिपुरुषार्थसाधनोपदेश्येव दृश्यते, अश्रूयमाणफलानामपि कर्मणां फलवत्ता विधिवृत्तपरीक्षायां[12] वक्ष्यते, सर्वो हि शास्त्रार्थः पुरुषार्थपर्यवसायी न स्वरूपनिष्ठ इति।

इतिहासपुराणाभ्यामपि उपाख्यानादिवर्णनेन वैदिक एवार्थः प्रायेण प्रतन्यते, यथोक्तम्—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥[13] (महाभारत, आदि. 1/265)

तदेवं वेदपुराणधर्मशास्त्राणां स्वत एव पुरुषार्थसाधनोपदेशस्वभावत्वाद्विद्यास्थानत्वम्।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

और वे शास्त्र चौदह प्रकार के होते हैं जिन्हें विद्वान् चौदह विद्याओं के नाम से पुकारते हैं। उनमें चार वेद हैं—पहला अथर्ववेद, दूसरा ऋग्वेद, तीसरा यजुर्वेद और चौथा सामवेद। ये चारों वेद तो साक्षात् ही पुरुषार्थ के साधनों का उपदेश देते हैं, जैसे कि—'स्वर्ग चाहने वाला अग्निहोत्र करें', 'आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए' आदि श्रुतिवाक्य।

स्मृतिशास्त्र भी मनु आदि द्वारा लिखे गये 'अष्टकाशिखाकर्म'[14] एवं 'प्रपा'[15] में प्रवृत्ति

आदि पुरुषार्थ के साधनों का उपदेश देते दिखाई देते हैं। जिन कर्मों के फल श्रुति (या स्मृति) में नहीं कहे गये हैं उनका फलयुक्त होना विध्यर्थ की परीक्षा[16] के समय बताया जायेगा, क्योंकि सभी शास्त्र पुरुषार्थ (में पर्यवसित) हेतु ही होते हैं, स्वरूपतः पुरुषार्थ (या केवल शास्त्रीय चर्चा के लिए) नहीं होते। इतिहास और पुराण के द्वारा भी कहानियों आदि के माध्यम से प्रायः वेदों का अर्थ ही विस्तारपूर्वक व्यक्त किया जाता है, जैसा कि कहा गया है—

इतिहास और पुराण के द्वारा वेद के विषय की व्याख्या करनी चाहिए। वेद अल्पज्ञ व्यक्ति से डरता है कि यह तो मेरा नाश कर देगा।

तो इस प्रकार पुरुषार्थ के साधनों का उपदेशक होने से वेद, पुराण और धर्मशास्त्र का विद्या होना स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

वेदांग और मीमांसा

अंगानि व्याकरण,[17] कल्प, ज्योतिः-शिक्षा-छन्दोनिरुक्तानि वेदार्थोपयोगिपदादिव्युत्पादनद्वारेण विद्यास्थानत्वं[18] प्रतिपद्यन्ते। तेषामंगसमाख्यैव तदनुगामितां प्रकटयति।

विचारमन्तरेणाव्यवस्थितवेदवाक्यार्था[19]नवधारणात् मीमांसा वेदवाक्यार्थविचारात्मिका वेदाकरस्येतिकर्त्तव्यातारूपमनुबिभ्रतीति[20] विद्यास्थानतां प्रतिपद्यते। तथा च भट्टः—

धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥

अतएव सप्तममंगमिति न गण्यते मीमांसा, प्रत्यासन्नत्वेन वेदैकदेशभूतत्वात्। विचारसहायो हि शब्दः स्वार्थं निराकांक्षं प्रबोधयितुं क्षमः।

वेद के अंग—व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, शिक्षा, छन्द और निरुक्त—वेदों के अर्थ को समझने के लिए उपयोगी पद आदि की व्याख्या के कारण विद्या का रूप प्राप्त करते हैं। इनका 'वेदांग' नाम ही प्रकट करता है कि ये वेद के अनुगामी हैं।

विचार के बिना वेद के वाक्य अव्यवस्थित होंगे और उनके अर्थ का बोध न हो सकेगा, इसलिए मीमांसा वेद के वाक्यों और अर्थों का विचार करने वाला शास्त्र है—यह वेदरूपी 'आकर' (कोश) की 'इतिकर्त्तव्यता' को धारण करता है (वेद के अध्ययन की पद्धति निरूपित करता है), अतः यह 'विद्या' के पद को प्राप्त करता है जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वेदरूपी करण से ही धर्म का प्रामाणिक ज्ञान हो सकता है और उसमें मीमांसा ही 'इतिकर्त्तव्यता' की पूर्ति करने वाला शास्त्र है।

यही कारण है कि मीमांसा को (वेद का) सातवां अंग नहीं गिनाया गया, वह तो वेद के सर्वाधिक समीप होने से उसका एक भाग ही है। शब्द (वेद) विचार (मीमांसा) की सहायता से ही स्वतन्त्ररूप से अपने अर्थ को प्रकट करने में समर्थ होता है।

न्यायविस्तर

न्यायविस्तरस्तु मूलस्तम्भभूतः सर्वविद्यानां, वेदप्रामाण्यरक्षाहेतुत्वात्। वेदेषु हि दुस्तार्किकरचितकुतर्कप्लावितप्रामाण्येषु शिथिलितास्थाः कथमिव बहुवित्तव्ययायाससाध्यं वेदार्थानुष्ठानमाद्रियेरन् साधवः। किं वा स्वामिनि परिम्लाने तदनुयायिना मीमांसादि-विद्यास्थानपरिजनेन कृत्यमिति। तस्मादशेषदुष्टतार्किकोपमर्दद्वारकदृढतरवेदप्रामाण्यप्रत्यया-धायिन्यायोपदेशक्षममक्षपादोपदिष्टमिदं न्यायविस्तराख्यं शास्त्रं प्रतिष्ठाननिबन्धनं इति परं विद्यास्थानम्।

विद्यास्थानत्वं नाम चतुर्दशानां शास्त्राणां पुरुषार्थसाधनज्ञानोपायत्वमेवोच्यते। वेदनं विद्या, तच्च न घटादिवेदनमपितु पुरुषार्थसाधनवेदनं, विद्यायाः स्थानमाश्रय उपाय इत्यर्थः। तच्च पुरुषार्थसाधनपरिज्ञानोपायत्वं कस्यचित् साक्षात्कारेण, कस्यचिदुपायद्वारेणेति। तानीमानि चतुर्दशविद्यास्थानानीत्याचक्षते। यथोक्तम्—

पुराण-तर्क-मीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥(याज्ञवल्क्य, 1/3) अन्यत्राप्युक्तम्
अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥

न्यायविस्तर सभी विद्याओं का मूल स्तम्भस्वरूप है, क्योंकि वह वेद के प्रामाण्य का हेतु है। दुष्ट तार्किकों द्वारा फैलाये गये कुतर्क-जाल से वेदों के प्रामाण्य में सन्देह होने लगा है और सज्जनों की आस्था शिथिल हो गई है, ऐसी स्थिति में अत्यधिक धन एवं श्रम के द्वारा साध्य वेदार्थ की साधना में उनका आदर कैसे हो? जब (वेदरूपी) स्वामी ही फीका पड़ जाये तो उस दशा में मीमांसा आदि (विद्यारूपी) उसके पीछे चलने वाले सेवक क्या करेंगे? इसलिए सारे कुतार्किकों का दलन करके वेद की प्रामाणिकता को दृढ़तर करने वाला और विश्वास जगाने वाला, न्यायपूर्ण उपदेश देने में समर्थ अक्षपाद द्वारा उपदिष्ट यह **न्यायविस्तर** नामक शास्त्र (सभी विद्याओं का) मूल होने से सर्वोच्च विद्या है।

चौदह शास्त्रों का पुरुषार्थ के साधनरूप में ज्ञान और उपाय ही विद्या कही जाती है। जानना ही विद्या है और वह जानना घटादि (लौकिक वस्तुओं) का जानना नहीं है, अपितु पुरुषार्थ के साधनों का जानना और उपाय करना है। 'विद्यास्थान' का तात्पर्य विद्या का आश्रय या उपाय है और वह पुरुषार्थ के साधनों का समग्र ज्ञान या उपाय किसी को साक्षात् रूप से प्राप्त हो जाता है और किसी को माध्यम के द्वारा, इसलिए ये चौदह 'विद्यास्थान' कहे जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पुराण, तर्क, मीमांसा, धर्मशास्त्र और छहों वेदांगों सहित चार वेद—ये चौदह विद्या और धर्म के स्थान हैं।

अन्यत्र भी कहा गया है—

(छः) वेदांग, चारों वेद, मीमांसा, **न्यायविस्तर**, पुराण और धर्मशास्त्र—ये चौदह विद्यायें हैं।

न्यायशास्त्र विद्यास्थान है

पूर्वत्र तर्कशब्देनोपात्तमुत्तरत्र च न्यायविस्तरशब्देनैतदेव शास्त्रमुच्यते, न्यायस्तर्कोऽनुमानं सोऽस्मिन्नेव व्युत्पाद्यते, यतः सांख्यार्हतानां तावत्क्षपणकानां कीदृशमनुमानोपदेशकौशलं कियदेव तत्तर्केण वेदप्रामाण्यं रक्ष्यते इति नासाविह गणनार्हः। बौद्धास्तु यद्यपि अनुमानमार्गावगाहननैपुण्याभिमानोद्धुरां कन्धरामुद्वहन्ति, तथापि वेदविरुद्धत्वात्तर्कस्य कथं वेदादिविद्यास्थानस्य मध्ये पाठः, अनुमानकौशलमपि कीदृशं शाक्यानामिति पदे पदे दर्शयिष्यामः। चार्वाकास्तु वराकाः प्रतिक्षेप्तव्या एवेति कः क्षुद्रतर्कस्य तदीयस्येह गणनावसरः।

वैशेषिकाः पुनरस्मदनुयायिन एवेत्येवमस्यां जनतासुप्रसिद्धायामपि षट्तर्क्यामिदमेव तर्कन्यायविस्तरशब्दाभ्यां शास्त्रमुक्तम्।

इयमेवान्वीक्षिकी चतसृणां विद्यानां मध्ये न्यायविद्या गण्यते 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती'ति, प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा अनुमानमित्यर्थः, तद्व्युत्पादकं शास्त्रमान्वीक्षिकम्।

ऊपर पहले श्लोक में 'तर्क' शब्द से और बाद वाले श्लोक में **न्यायविस्तर** शब्द से इसी शास्त्र का कथन किया गया है। न्याय का स्वरूप 'तर्क' और 'अनुमान' है, वह इसी शास्त्र में प्रतिपादित होता है।

(यहां शंका हो सकती है कि तर्क का आश्रय लेने वाले छः शास्त्र हैं—सांख्य, आर्हत, बौद्ध, चार्वाक, वैशेषिक और नैयायिक—इसलिए ये 'षट्तर्की' नाम से प्रसिद्ध हैं, फिर यह कैसे माना जा सकता है कि न्यायशास्त्र ही प्राचीन 'तर्क' (शास्त्र) है? इसी शंका की स्वयं संभावना करके जयन्तभट्ट कहते हैं—)

क्योंकि सांख्यों, जैनों और बौद्धों का अनुमान-कौशल कैसा है और उनके तर्क से वेद की प्रामाणिकता की कितनी रक्षा होती है, यह तो बताने की आवश्यकता ही नहीं। (फिर उपहासपूर्वक कहते हैं कि) हालांकि बौद्ध तो अपनी अनुमान-पद्धति के अनुशीलन की चतुराई के अभिमान में गर्दन ऊँची करके चलते हैं (अर्थात् अपने आपको महान् तार्किक समझते हैं), फिर भी वेद के विरुद्ध होने से उनके तर्क का वेदादि विद्यास्थानों में समावेश कैसे हो सकता है? और उन बौद्धों का अनुमान-कौशल भी कैसा है, यह तत्तद् स्थलों पर दिखाया जायेगा। 'बेचारे' चार्वाक तो उपेक्षणीय ही हैं, इसलिए उनके क्षुद्र तर्क की गणना का तो यहां कोई अवसर ही नहीं है। (यद्यपि चार्वाक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण को नहीं मानते, यह प्रसिद्ध

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

है, तथापि अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए उन्हें भी तर्क का आश्रय तो लेना ही पड़ता है—इसीलिए यहां उन्हें 'वराक' विशेषण से व्यक्त किया गया है। उल्लेखनीय है कि शिष्ट चार्वाक तो अनुमान या तर्क को भी प्रमाण मानते हैं, जैसाकि यहां भी आगे यथावसर दिखाया जायेगा।)

वैशेषिक तो हमारे अनुयायी ही हैं, इसलिए लोगों में 'षट्तर्की' रूप में (इन छः शास्त्रों के) प्रसिद्ध होने पर भी तर्क और **न्यायविस्तर** शब्दों से इसी शास्त्र का कथन किया जाता है।

आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और सदा रहने वाली दण्डनीति (ये चार विद्यायें हैं)। इन चारों विद्याओं में से आन्वीक्षिकी की ही न्यायविद्या के रूप में गणना की गई है।

प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा ज्ञात विषय का पुनः ज्ञात होना ही अन्वीक्षा (अनु + ईक्षा) या अनुमान है, उसका प्रतिपादक शास्त्र ही आन्वीक्षिकी है (और वही न्यायशास्त्र है)।

विद्यास्थान चतुर्दश ही

ननु चतस्रश्चेद् विद्याः कथं चतुर्दश दर्शिताः, नैष विरोधः, वार्त्तादण्डनीत्योर्दृष्टैकप्रयोजनत्वेन सर्वपुरुषार्थोपदेशविद्यावर्गे गणनानर्हत्वात्त्रय्यान्वीक्षिक्योश्च तत्र निर्देशाच्चतुर्दशैव विद्याः।

प्रश्न उठता है कि यदि विद्यायें चार हैं तो (यहां) चौदह क्यों कही गई हैं? उसका उत्तर है कि यहां कोई विरोध नहीं है क्योंकि वार्त्ता और दण्डनीति का प्रयोजन केवल दृष्ट ही है इसलिए सब पुरुषार्थों के उपदेशरूप विद्याओं के वर्ग में उनकी गणना नहीं हो सकती तथा त्रयी और आन्वीक्षिकी का तो उनमें निर्देश है ही, इसलिए विद्यायें चौदह ही हैं। (भाव यह है कि 'वार्ता तु जीवनम्' इस कामन्दकीय नीति-वचन के आधार पर वार्त्ता तो संसार में जीवन-हेतु की प्रतिपादक मानी गई है तथा दण्डनीति उस जीवन के विघ्नों का निवारण करने वाली है—अतः ये दोनों तो दृष्टप्रयोजनवाली हैं, जबकि विद्यास्थान सारे पुरुषार्थों का साधन सिखाने वाले हैं। इसलिए चौदह विद्यास्थानों की गणना पुरुषार्थ-साधन के रूप में की गई है और चार विद्याओं की गणना भिन्न दृष्टि से की गई है—उन दोनों में कोई विरोध नहीं है।)

ननु वेदप्रामाण्यनिर्णयप्रयोजनश्चेन्न्यायविस्तरः कृतमनेन, मीमांसात एव तत्सिद्धेः। तत्र ह्यर्थविचारवत् प्रामाण्यविचारोऽपि कृत एव—सत्यम्—स त्वानुषंगिकः। तत्र मुख्यस्त्वर्थविचार एव। पृथक्प्रस्थाना हीमा विद्याः। सा च वाक्यार्थविद्या न प्रमाणविद्येति। न च मीमांसकाः सम्यक् वेदप्रामाण्यरक्षणक्षमां सरणिमवलोकयितुं कुशलाः। कुतर्ककण्टकनिकरनिरुद्धसंचारमार्गाभासपरिभ्रान्ताः खलु ते इति वक्ष्यामः। न हि प्रमाणान्तरसंवाददार्ढ्यमन्तरेण प्रत्यक्षादीन्यपि प्रमाणभावं भजन्ते, किमुत तदधीनवृत्तिरेष शब्दः। शब्दस्य हि समयोपकृतस्य बोधकत्वमात्रं स्वाधीनम्। अर्थतथात्वेतरत्वपरिनिश्चये तु पुरुषमुखप्रेक्षित्वमस्यापरिहार्यम्। तस्मादाप्तोक्तत्वादेव शब्दः प्रमाणीभवति, नान्यथा इत्येतच्चास्मिन्नेव शास्त्रे व्युत्पादयिष्यते।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

(पुनः प्रश्न उठता है कि) यदि वेद की प्रामाणिकता का निर्णय ही **न्यायविस्तर** का प्रयोजन है तो इसकी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वह तो मीमांसा से ही सिद्ध हो जाता है। वहां (मीमांसा में) अर्थ के विचार की भांति प्रामाणिकता का विचार भी किया ही गया है। (इसका उत्तर है कि) ठीक है, किन्तु वह (वहां मीमांसा में प्रामाणिकता का विचार) गौण है, वहां मुख्य तो अर्थ का विचार ही है।[21] इसलिए ये दोनों विद्यायें (मीमांसा और **न्यायविस्तर**) पृथक्-पृथक् प्रस्थान हैं। वह (मीमांसा) वाक्यार्थ-विद्या है, प्रमाणविद्या नहीं।[22] और न ही मीमांसक वेद के प्रामाण्य-रक्षण में समर्थ मार्ग को भलीभांति देखने में कुशल हैं। उनकी गति कुतर्करूपी कांटों के समूह से रुकी हुई और दिशाभ्रम से भ्रमित है, यह आगे ('अहो बत इमे श्रोत्रियाः' आदि प्रकरणों में) बताया जावेगा। प्रमाणों की परस्पर संगति से पुष्ट हुए बिना तो प्रत्यक्षादि भी प्रमाण कोटि[23] को प्राप्त नहीं करते, फिर शब्द का तो कहना ही क्या, वह तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अधीन है। (भाव यह है कि यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण सब प्रमाणों में प्रबल और ज्येष्ठ माना जाता है तथापि सीपी और चांदी में भ्रम होने पर प्रामाण्य के लिए उसे भी जब तर्क की अपेक्षा होती है तो फिर इस शब्द-प्रमाण को तो नितान्त रूप से तर्क या अनुमान की सहायता लेनी पड़ती है क्योंकि उसमें तो त्रुटि की बहुत संभावना रहती है और उस शब्द का प्रामाण्य केवल नैयायिकों द्वारा ही बचाया जा सकता है क्योंकि वे ही कुतर्कों का निराकरण करने में सक्षम हैं, मीमांसक नहीं—इसलिए वेद का प्रामाण्य तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र पर ही निर्भर है।) शब्द संकेत (शक्ति आदि अनुबन्ध) के आधार पर (अर्थ का) बोध मात्र कराने में स्वाधीन है किन्तु उस अर्थ की यथार्थता या अयथार्थता का निश्चय करने के लिए वह (शब्द) अनिवार्यतः (वक्ता) व्यक्ति पर ही निर्भर होता है। इसलिए आप्त व्यक्ति द्वारा कहे जाने पर ही शब्द प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं, यह इसी शास्त्र में आगे बताया जायेगा।

ननु अक्षपादात्पूर्वं कुतो वेदप्रामाण्यनिश्चय आसीत्? अत्यल्पमिदमुच्यते—जैमिनेः पूर्वं केन वेदार्थो व्याख्यातः? पाणिनेः पूर्वं केन पदानि व्युत्पादितानि? पिंगलात्पूर्वं केनच्छन्दांसि रचितानि? आदिसर्गात् प्रभृति वेदवदिमा विद्याः प्रवृत्ताः। संक्षेपविस्तरविवक्षया तु तांस्तान् तत्र तत्र कर्त्तृनाचक्षते।

प्रश्न उठता है कि अक्षपाद से पहले वेदों के प्रामाण्य का निश्चय कैसे होता था? संक्षेप में इसका उत्तर दिया जा रहा है (वह इस प्रकार है कि)—जैमिनि से पहले किसने वेदों के अर्थ की व्याख्या की थी? पाणिनि से पहले किसने पदों का उपदेश दिया? पिंगल से पहले किसने छन्द रचे? वेदों की भांति ये विद्यायें भी सृष्टि के आरम्भ से ही प्रचलित थीं—संक्षेप और विस्तारपूर्वक व्याख्या की दृष्टि से उन उन आचार्यों को इन विद्याओं का कर्त्ता कहा जाता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शास्त्रारम्भ का प्रयोजन

ननु वेदप्रामाण्यं निर्विचारसिद्धमेव साधवो मन्यन्ते इति किमत्र विचारयत्नेन। न, संशयविपर्यासनिरासार्थत्वात्। यस्य हि वेदप्रामाण्ये संशयाना विपर्यस्ता वा मतिस्तं प्रति शास्त्रारम्भः, न हि विदितवेदार्थं प्रति मीमांसा प्रस्तूयते, तदुक्तम्—'नान्यतो वेदविद्भ्यश्च सूत्रवृत्तिक्रियेष्यते'। (श्लो. वा. 1/4/43)

यहां प्रश्न किया जा सकता है कि वेदों का प्रामाण्य तो बिना विचारे ही सिद्ध है, ऐसा शिष्ट जन मानते हैं, इसलिए इस विषय में विचार करने का प्रयत्न ही व्यर्थ है।[24] (इसका उत्तर होगा कि) नहीं, संशय और विपर्यास (यानि वेदविरोध) के निराकरण के लिए यह विचार आवश्यक है। (तात्पर्य यह है कि) जिस किसी की बुद्धि वेद के प्रामाण्य के विषय में संशयग्रस्त है या विपर्यासग्रस्त है, उसी के लिए शास्त्र की प्रवृत्ति या रचना होती है। जिसे वेदों का अर्थ विदित है, उसके लिए मीमांसा की प्रस्तुति नहीं होती, जैसा कि (कुमारिलभट्ट ने 'श्लोकवार्त्तिक में) कहा है—

किसी अन्य प्रकार से वेद को जानने वालों के लिए सूत्र या वृत्ति की रचना इष्ट नहीं होती (अपितु उससे भिन्न जनों के लिए ही होती है।)

शास्त्र के अधिकारी

भवति च चतुष्प्रकारः पुरुषः अज्ञः, सन्दिग्धो, विपर्यस्तो निश्चितमतिश्चेति। तत्र निश्चितमतिरेष मुनिः अमुना शास्त्रेण अज्ञस्य ज्ञानमुपजनयति, संशयानस्य संशयमुपहन्ति, विपर्यस्यतो विपर्यासं व्युदस्यतीति तान्प्रति युक्तः शास्त्रारम्भः।

कुतः पुनरस्य मुनेः निश्चितमतित्वं जातम्? उच्यते-भवति तावदेष निश्चितमतिः, स तु तपःप्रभावाद् वा देवताराधनाद् वा शास्त्रान्तराभ्यासाद् वा भवतु किमनेन? तत्रैतत् स्यात्तत एव शास्त्रान्तरादस्मदादेरपि तत्त्वाधिगमो भविष्यति इति किमक्षपादप्रणीतेन शास्त्रेण, परिहृतमेतत् संक्षेपविस्तरविवक्षया शास्त्रप्रणयनस्य साफल्यात्। विचित्रचेतसश्च भवन्ति पुरुषा इत्युक्तम्, येषामित एवाज्ञानसंशयविपर्यया विनिवर्त्तन्ते तान्प्रत्येतत्प्रणयनं सफलमितीदं प्रणीतवानाचार्यः।

(संसार में) चार प्रकार के पुरुष[25] होते हैं—अज्ञानी, संदिग्ध मति वाला, विपर्यस्त मति वाला और निश्चित मति वाला। इनमें से यह मुनि (न्यायशास्त्रप्रवर्त्तक अक्षपाद) निश्चितमति वाले हैं और वे इस (न्याय) शास्त्र द्वारा अज्ञानी में ज्ञान उत्पन्न करते हैं, संदिग्ध मति वाले के संशय का नाश करते हैं, विपर्यस्त मति वाले के विपर्यास का निराकरण करते हैं, इसलिए उन तीनों प्रकार के पुरुषों के लिए इस शास्त्र की रचना का औचित्य है।

(यदि यहां प्रश्न हो कि) उन (अक्षपाद) मुनि का निश्चित मति वाला होना कैसे सिद्ध हुआ? (इसके उत्तर में) कहा जाता है कि यह (अक्षपाद मुनि) निश्चित मति वाले (माने जाते) हैं। भले ही वह निश्चित मति वाला होना तपस्या के प्रभाव से, देवता की आराधना से या दूसरे शास्त्रों के अभ्यास से भी हो, इससे क्या अन्तर

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पड़ता है? इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि दूसरे शास्त्रों के अभ्यास से हम जैसे लोगों को भी तत्त्वज्ञान हो सकता है तो फिर अक्षपादरचित इस न्यायशास्त्र को पढ़ने से ही क्या प्रयोजन?[26]

यह सब (पूर्व पक्ष) पहले ही निराकृत है, क्योंकि संक्षेप और विस्तारपूर्वक व्याख्या की दृष्टि से ही शास्त्र की रचना की सफलता (होती) है। विभिन्न प्रकार की बुद्धिवाले पुरुष होते हैं, यह (ऊपर) बताया जा चुका है।[27] (उनमें से) जिन लोगों के अज्ञान, संशय या विपर्यय इस शास्त्र को पढ़ने से निवृत्त हो जाते हैं, उनके लिए इस शास्त्र की रचना की सफलता है, यही सोचकर आचार्य ने इस शास्त्र की रचना की है।

आदिवाक्य (प्रथम सूत्र)

तत्रेदमादिमं सूत्रम्—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-
तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजा-
तिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः ॥1-1-1 ॥

उस शास्त्र में निर्दिष्ट पहला सूत्र यह है कि प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति और निग्रहस्थान नामक षोडश पदार्थों के वास्तविक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आदिवाक्य की प्रयोजनीयता

ननु किमर्थोऽयमादिवाक्यारम्भः?

कोऽयं प्रश्नः? शास्त्रं चेदारम्भणीयं क्रमवृत्तित्वाद्वाचः प्रथममवश्यं किमपि वाक्यं प्रयोक्तव्यम्। न ह्यादिवाक्यमकृत्वा द्वितीयादिवाक्यप्रणयनमुपपद्यत इति ग्रन्थकरणमेवाघटमानं स्यात्॥

आह—न खल्वेवं न जाने! किन्तु यदेव शास्त्रे व्युत्पाद्यत्वेन स्थितं तदेव व्युत्पाद्यताम्। किमादौ तदभिधेयप्रयोजनकीर्तनेन?

उच्यते—

आदिवाक्यं प्रयोक्तव्यमभिधेयप्रयोजने।
प्रतिपादयितुं श्रोतृप्रवाहोत्साहसिद्धये ॥17 ॥
अभिधेयफलज्ञानविरहास्तमितोद्यमाः।
श्रोतुमल्पमपि ग्रन्थमाद्रियेरन् न सूरयः ॥18 ॥

(यहां पूर्वपक्ष की ओर से) प्रश्न होता है कि 'आदिवाक्य' (प्रथम सूत्र) से शास्त्र का आरम्भ किसलिए (किया गया है)?

(इसके उत्तर में जयन्तभट्ट कहते हैं कि) यह कैसा प्रश्न है? यदि शास्त्र का आरम्भ करना है तो कोई न कोई वाक्य तो पहले कहना ही होगा क्योंकि वाणी का व्यापार क्रमिक ही होता है। 'आदिवाक्य' का आरम्भ किए बिना द्वितीय, तृतीय आदि

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वाक्यों की रचना नहीं हो सकती और फिर तो ग्रन्थ का निर्माण ही असम्भव हो जायेगा।

इस पर पूर्वपक्षी पुनः कहता है कि ऐसा नहीं कि ऊपर कही गई बात मुझे ज्ञात नहीं, किन्तु जो कुछ भी शास्त्र का प्रतिपाद्य है, वही बताइये—आरम्भ में उसके प्रयोजन का बखान करने से क्या लाभ?

(उसके उत्तर) में कहा जा रहा है कि—श्रोताओं (या पाठकों) की सतत रुचि बनाये रखने के लिए आदिवाक्य में प्रतिपाद्य विषय एवं उसके प्रयोजन का प्रतिपादन करना चाहिए (क्योंकि) प्रतिपाद्य और उसके प्रयोजन का ज्ञान हुए बिना विद्वानों का उत्साह मन्द हो जाता है और वे थोड़ा सा भी ग्रन्थ सुनने (या पढ़ने) के लिए इच्छुक नहीं होते।

शास्त्र के आरम्भ में प्रतिपाद्य विषय एवं प्रयोजन का कथन आवश्यक

को हि नाम विद्वान् अविदितविषये निष्प्रयोजने च कर्मणि प्रवर्तेत। आह च भट्टः —

'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित्।
यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते' इति॥ (श्लो.वा. 1-1-12)

ऐसा कौन विद्वान् होगा जो प्रतिपाद्य विषय को जाने बिना और किसी प्रयोजन के बिना किसी कर्म में प्रवृत्त होगा? जैसा कि कुमारिल भट्ट ने भी कहा है—

सभी शास्त्रों (के अध्ययन) का और किसी भी कर्म का जब तक प्रयोजन नहीं बताया जाता, तब तक उसे कौन स्वीकार करेगा?

प्रयोजन के ज्ञान से ही शास्त्र में प्रवृत्ति

ननु प्रयोजनपरिज्ञानमादौ श्रोतॄणां कुतस्त्यम्? इति चिन्त्यम्—किमस्मादेव वाक्यात्? उत युक्तितः?

'वाक्यं' तावदनिश्चितप्रामाण्यं कथं प्रयोजननिश्चयाय प्रभवति। संशयाद्वा प्रवृत्तौ वेदार्थेऽपि तथैव स्यादिति शास्त्रमनारब्धव्यं स्यात्॥

युक्तितः प्रयोजनावगमः शास्त्रे सर्वस्मिन्नधीते सति सम्भवति, नेतरथेति तदवगमपूर्विकायां प्रवृत्तौ इतरेतराश्रयः—शास्त्राधिगमात् प्रयोजनपरिज्ञानं, प्रयोजन-परिज्ञानाच्च 'शास्त्रश्रवणे' प्रवृत्तिः—

उच्यते—आदिवाक्यादेव श्रोतुः शास्त्रप्रयोजनपरिज्ञानं, अर्थसंशयाच्च श्रवणे प्रवृत्तिः।

(पूर्वपक्ष की ओर से पुनः) प्रश्न होता है कि श्रोताओं को आरम्भ में (शास्त्र के) प्रयोजन का ज्ञान कहां से होता है—यह जरा सोचिये। क्या इसी आदि वाक्य से अथवा युक्ति से?

यदि माना जाये कि शास्त्र के प्रयोजन का निर्णय आदिवाक्य से होता है तो शंका होगी कि उस आदि वाक्य से प्रतिपाद्य शास्त्र का प्रामाण्य तो अभी स्वयं अनिश्चित है, फिर वह कैसे प्रयोजन का निश्चय करा सकता है? और यदि कहा जाये कि संशय से ही प्रवृत्ति होती है, तब तो वेदार्थ के विषय में भी वैसा ही मान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

लेना चाहिए और फिर इस शास्त्र का आरम्भ ही नहीं करना चाहिए (अर्थात् यदि इस शास्त्र के प्रामाण्य में संशय होने पर भी इस शास्त्र को पढ़ने का औचित्य है तो फिर वेद का प्रामाण्य अनिश्चित रहने पर भी वेदार्थ के अनुशीलन में ही क्यों न प्रवृत्त हुआ जाये ? इस संशयित प्रामाण्य वाले शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ ?)।

यदि युक्ति से इस शास्त्र के प्रयोजन का ज्ञान माना जाये, तब तो वह ज्ञान सम्पूर्ण शास्त्र पढ़ लेने पर ही सम्भव होगा, और किसी रीति से नहीं—इस भांति प्रवृत्ति से पूर्व शास्त्र-ज्ञान आवश्यक होने से अन्योन्याश्रय[28] दोष होगा क्योंकि शास्त्र के अध्ययन से प्रयोजन का ज्ञान और प्रयोजन के ज्ञान से शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्ति (ये दोनों परस्पर आश्रित हैं)।

इन प्रश्नों के उत्तर में सिद्धान्तपक्ष की ओर से कहा जा रहा है कि—आदिवाक्य से ही श्रोता को शास्त्र के प्रयोजन का ज्ञान होता है और अर्थ (विषय) के बारे में संशय होने से उसके श्रवण में प्रवृत्ति होती है (अतः इन दोनों में कोई विरोध न होने से दोष नहीं है)।

वेदे ह्यसिद्धप्रामाण्ये महाक्लेशेषु कर्मसु।
नानर्थशङ्कया युक्तं अनुष्ठानप्रवर्तनम् ।।19 ।।

बहुवित्तव्ययायासवियोगसुगमेऽध्वनि।
प्रवृत्तिरुचितोदारफले लघुपरिश्रमे ।।20 ।।

शृण्वन्त एव जानन्ति सन्तः कतिपयैर्दिनैः।
किमेतत्सफलं शास्त्रं उत मन्दप्रयोजनम् ।।21 ।।

सूक्ष्मेक्षिका तु यद्यत्र क्रियते प्रथमोद्यमे।
असौ सकलकर्तव्यविप्रलोपाय कल्पते ।।22 ।।

आर्तो हि भिषजं पृष्ट्वा तदुक्तमनुतिष्ठते।
तस्मिन् सविचिकित्सस्तु व्याधेराधिक्यमाप्नुयात् ।।23 ।।

तेनादिवाक्याद्विज्ञाय साभिधेयं प्रयोजनम्।
तत्सम्भावनया कार्यः तच्छास्त्रश्रवणादरः ।।24 ।।

क्योंकि वेद का प्रामाण्य अभी सिद्ध नहीं है तथा (वेद प्रतिपादित) कर्म अत्यधिक कष्टसाध्य है, इसलिए (जब तक उनका प्रामाण्य निश्चित न हो जाये, तब तक) अनर्थ की सम्भावना होने से उन कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति उचित नहीं है। (अतः उनकी अपेक्षा सरल इस शास्त्राध्ययन में सामान्य रूप से प्रयोजन का ज्ञान हो जाने पर भी प्रवृत्ति उचित ही है, यह भाव है)।

इस (शास्त्राभ्यास रूपी) मार्ग में बहुत धन खर्च किये बिना और परिश्रम से रहित सरल उपाय द्वारा थोड़े से प्रयास से ही प्रचुर फल मिलने की आशा होने के कारण प्रवृत्ति उचित है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

कुछ दिनों तक पढ़ने-सुनने पर सज्जन स्वयं ही जान जाते हैं कि अमुक शास्त्र (में प्रवृत्ति) सफल है अथवा निष्प्रयोजन है।

यदि यहां प्रथम प्रयास (शास्त्र में प्रारम्भिक प्रवृत्ति) में ऐसी (आशंकापूर्ण) सूक्ष्म दृष्टि रखी जायेगी, तब तो इससे (संसार के) समस्त कार्य ही विलुप्त हो जायेंगे (अर्थात् यदि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ से पूर्व उसके प्रामाण्य के विषय में ऐसी सूक्ष्म दृष्टि से शंका उठाई जाने लगे, तब तो कोई भी कभी किसी कार्य में प्रवृत्त ही नहीं होगा)।

(इसी बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि) रोगी व्यक्ति चिकित्सक से पूछकर उसके द्वारा बताई गई (औषधि आदि) चिकित्सा ही करता है, (आरम्भ में) उस विषय में विचिकित्सा (संशय) करने पर तो उसका रोग और अधिक बढ़ जायेगा।

इसलिए आदिवाक्य से (इस शास्त्र के) प्रतिपाद्य विषय और प्रयोजन को जानकर उसके प्रति सम्भावना भर से ही इस शास्त्र के श्रवण-अध्ययन में आदर रखना चाहिए।

आदिवाक्य उपादेयता-ज्ञान-जनक है

यैरप्यादिवाक्यमित्थं व्याख्यायते किल—'अनन्वितपदार्थकं वाक्यमनुपादेयं— दशदाडिमादिवाक्यवत्। अन्वितपदार्थकमपि निष्प्रयोजनमनुपादेयमेव—सदसद्वायसदशनविमर्शवाक्यमिव। तदिह उपादेयताव्यापकप्रयोजनाद्यनुपलम्भादनादरणीयमिति व्यापकानुपलब्ध्या 'प्रत्यवतिष्ठमानः परः' प्रयोजनाद्यभिधायिना आदिवाक्येन निवृत्ताशङ्कः क्रियत इति—तैरपि प्रयोजन प्रतिपादनमेवादिवाक्यस्यार्थ इत्युक्तं भवति। तत्प्रतिपादनेनैव व्यापकानुपलब्धिपरिहारादाशङ्का निवारिता भवतीति॥

जिन लोगों के द्वारा आदिवाक्य की व्याख्या इस भांति की जाती है कि—जिस वाक्य के पदों का अर्थ असम्बद्ध होता है (अन्वित नहीं होता), वह वाक्य अनुपादेय ही होता है जैसे 'दश दाडिम' आदि वाक्य। पदों का अर्थ अन्वित होने पर भी जिस वाक्य का कोई प्रयोजन नहीं होता, वह भी अनुपयोगी ही होता है जैसे—'कौए के दाँत होते हैं या नहीं'? इसलिए यहां 'उपादेयता और व्यापक प्रयोजन आदि की अनुपलब्धि के कारण यह (शास्त्र) आदर[29]-योग्य नहीं है'—व्यापक-अनुपलब्धि[30] के कारण ऐसा माननेवाले (प्रतिपक्षियों) को तो प्रयोजन आदि बतानेवाले आदिवाक्य के द्वारा ही निःशङ्क कर दिया जाता है। (इस भांति) उन लोगों के द्वारा भी यही कहा जाता है कि प्रयोजन का प्रतिपादन ही आदिवाक्य का तात्पर्य है। उसके प्रतिपादन से ही व्यापक-अनुपलब्धि का परिहार होता है और (उक्त) आशंका का निवारण हो जाता है।

आदिवाक्य अर्थसंशायक होने से प्रवर्त्तक है

यदपि प्रवृत्तिहेतोरर्थसंशयस्य, तर्कापरनाम्न औचित्यस्य वा समुत्पादनमादिवाक्येन क्रियत इति केचिदाचक्षते—तदपि प्रयोजनाभिधानद्वारकमेव। प्रयोजनविषयो हि संशयो

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

वा संभावनाप्रत्ययो वा प्रवृत्त्यङ्गभूतस्तेनोत्पादनीय इति तदुत्पत्तौ प्रयोजनाभिधानमेवादिवाक्यस्य व्यापारः। संशयस्तु वस्तुवृत्तोपनत एव, पुरुषवचसां द्वैविध्यदर्शनात्। शौचसमाचारसाधुतादिना तु तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययश्योऽपि लोकस्य भवतीति। तस्मात् प्रयोजन प्रतिपादनार्थमेवादिवाक्यमिति सूक्तम्॥

जो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि अर्थ में संशय ही प्रवृत्ति का हेतु है, उस प्रवृत्ति तथा संशयनिरास के लिए जो उचित तर्क दिया जाता है, उसी की प्रस्तुति आदिवाक्य के द्वारा होती है—वह भी प्रयोजन के प्रतिपादन द्वारा ही सम्भव है। प्रयोजन का विषय भले ही संशयास्पद हो या सम्भावित प्रतीति वाला हो, वह प्रवृत्ति का अंगभूत होता है और उसी से उत्पन्न होता है, इसलिए उसकी उत्पत्ति में प्रयोजन का प्रतिपादन ही आदिवाक्य का कार्य है। संशय तो वस्तु के वर्णन पर ही आधारित होता है (न कि आदिवाक्य के अधीन होता है) क्योंकि वक्ता पुरुष के वचनों में (सत्यासत्यरूप) द्वैविध्य दिखाई देता है। उसी संशय में (वक्ता पुरुष के) पवित्रता, सदाचार और साधुता आदि के कारण लोगों को प्रयोजन के अर्थ की सम्भावना[31] की प्रतीति होती है। इसलिए आदिवाक्य प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए ही है, यह कथन ठीक है।

अनुबन्धचतुष्टय

तच्च श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गं तद्वक्तुं युक्तमादितः।
न च प्रयोजनज्ञानादन्यदस्ति प्रवर्तकम्॥25॥

अभिधेयकथनमपि तत्साध्यप्रयोजनोपपादनाय श्रोतृबुद्धिसमाधानाय च कर्त्तव्यमेव॥

अर्थाक्षिप्तस्तु सम्बन्धः फलशास्त्राभिधेयगः।
तन्निर्देशेन सिद्धत्वात् न स्वकण्ठेन कथ्यते॥26॥

अभिधेयस्य शास्त्रस्य च वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः, शास्त्रार्थस्य निःश्रेयसस्य च साध्यसाधनभावलक्षणः सम्बन्धः तदाश्रयनिर्देशादेव सिद्धः॥

सबसे पहले श्रोता की प्रवृत्ति के अंग का ही कथन होना चाहिए और वह प्रवर्त्तक प्रयोजन के ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं होता।

प्रतिपाद्य विषय का कथन भी उसके साध्य प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए और श्रोताओं की बुद्धि को स्थिर करने के लिए ही किया जाना चाहिए।

सम्बन्ध तो अर्थ से (स्वयं ही) फलित होता है और फल शास्त्र के विषय ज्ञान से प्राप्त होता है, ये दोनों तो अर्थ और विषय के निर्देश से सिद्ध ही हैं, इसलिए उनका शब्दशः कथन नहीं किया जा रहा है।

प्रतिपाद्य विषय और शास्त्र में वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध है, शास्त्र के अर्थ और निश्रेयस् में साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध[32] है और वह आश्रयों (सम्बन्धियों) के निर्देश से ही सिद्ध है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

षोडश पदार्थोद्देश

अभिधेयास्तु प्रमाणादयो निग्रहस्थानपर्यन्ताः षोडश पदार्थाः प्रथमसूत्रे निर्दिष्टाः तेषां स्वरूपमुपरिष्टाद्वक्ष्यते ॥

अर्थपरिच्छित्तिसाधनानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि।

तत्परिच्छेद्यमात्मादि प्रमेयम्।

नानार्थावमर्शः संशयः।

हिताहितप्राप्तिपरिहारौ, तत्साधनं च प्रयोजनम्।

हेतोः प्रतिबन्धावधारणं दृष्टान्तः।

प्रमाणतोऽभ्युपगम्यमानः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशभूताः प्रतिज्ञादयोऽवयवाः।

सन्दिग्धेऽर्थेऽन्यतरपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सम्भावनाप्रत्ययस्तर्कः।

साधनोपलम्भजन्मा तत्त्वावबोधो निर्णयः।

वीतरागकथा वस्तुनिर्णयफला वादः।

विजिगीषुकथा तु पुरुषशक्तिपरीक्षणफला जल्पः।

तद्विशेषो वितण्डा।

अहेतवो हेतुवदाभासमानाः हेत्वाभासाः।

अर्थविकल्पैर्वचनविघातः छलम्।

हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं प्रत्यवस्थानं जातिः।

सत्यवस्त्वप्रतिभासः विपरीतप्रतिभासश्च निग्रहस्थानम्॥

प्रथम सूत्र में प्रमाण से लेकर निग्रहस्थान तक सोलह पदार्थों का अभिधेय के रूप में निर्देश किया गया है। उनका स्वरूप आगे बताया जायेगा—

1. अर्थ के स्वरूप को निश्चित रूप से जानने के साधन प्रत्यक्ष आदि **प्रमाण** हैं।
2. उन प्रमाणों के द्वारा ज्ञेय आत्मा आदि (विषय) **प्रमेय** हैं।
3. अनेक विकल्पों के विषय में ऊहापोह **संशय** है।
4. हित की प्राप्ति और अहित का परित्याग तथा उनके साधन **प्रयोजन** हैं।
5. हेतु (और साध्य) के प्रतिबन्ध (व्याप्ति-सम्बन्ध) की अवधारणा **दृष्टान्त** है।
6. प्रमाणों से सिद्ध होनेवाला सामान्यविषयक और विशेषपरक अर्थ **सिद्धान्त** है।
7. परार्थानुमान वाक्य के अंगभूत प्रतिज्ञादि **अवयव** हैं।
8. संदिग्ध विषय में किसी एक पक्ष के अनुकूल कारणों का दर्शन होने से उसमें सम्भावना की प्रतीति **तर्क** है।
9. साधन के आधार पर उत्पन्न होने वाला तत्त्व का ज्ञान **निर्णय** है।
10. वस्तु के बारे में निष्पक्ष निर्णय जिसका फल है, वह कथा **वाद** है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

11. (प्रतिवादी को) जीतने की इच्छा वाली वाक् शक्ति के परीक्षण रूपी फल वाली सामान्य कथा **जल्प** है।
12. उसी का विशिष्ट रूप **वितण्डा** है।
13. हेतु न होने पर हेतु की तरह भासित होनेवाले **हेत्वाभास** हैं।
14. (वक्ता के द्वारा बोले गये वचन यदि श्रोता को अभिप्रेत न हों तो) अर्थ के विकल्पों से बात को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना **छल** है।
15. हेतु जैसा प्रतीत होता है, उसका प्रतिषेध करता हुआ उत्तर **जाति** है।
16. वास्तविक वस्तु की प्रतीति न होना और विपरीत प्रतीति होना **निग्रहस्थान** है।

प्रथम न्यायसूत्र में समास का विचार

तत्र वक्ष्यमाणलक्षणसूत्रनिर्देशानुसारेण कानिचित् एकवचनान्तानि, कानिचिद्बहुवचनान्तानि पदानि विगृहीतव्यानि। प्रमाणावयवहेत्वाभासानां बहुवचनेन विग्रहो दर्शयितव्यः, शेषाणामेकवचनेन; लक्षणसूत्रेषु तथा निर्देशात्। एवञ्चोद्देशलक्षणयोरेकविषयता नितरां दर्शिता भवति। इतरेतरयोगे द्वन्द्वस्समासः। प्रमाणादीनां तत्त्वमिति सम्बन्धमात्रे षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानं, निःश्रेयसस्याधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यौ, तत्त्वस्य ज्ञायमानत्वेन निःश्रेयसस्य चाधिगम्यमानत्वेन कर्मत्वात्॥

(उक्त पदार्थोद्देशपरक) सूत्र में समास-विग्रह करते समय कुछ पद आगे कहे जाने वाले लक्षण सूत्रों के निर्देश के अनुसार एकवचनान्त ग्रहण करने चाहिए और कुछ बहुवचनान्त ग्रहण किये जाने चाहिए। प्रमाण, अवयव और हेत्वाभासों का विग्रह बहुवचन से दिखाना चाहिए; बाकी का एकवचन से, क्योंकि लक्षणसूत्रों में वैसा निर्देश है—और इस प्रकार उद्देश तथा लक्षण की एकविषयता भी भलीभांति स्पष्ट हो जाती है। (प्रमाण-प्रमेय आदि पदार्थों में) इतरेतरयोग में द्वन्द्व समास है। प्रमाणादि का तत्त्व (के साथ) यहां सम्बन्धमात्र सूचित करने के लिए षष्ठी लगाई गई है। तत्त्व का ज्ञान और निश्रेयस् की प्राप्ति—इन दोनों स्थलों पर कर्मकारक की विवक्षा में षष्ठी का प्रयोग हुआ है क्योंकि तत्त्व के ज्ञायमान होने से तथा निश्रेयस् के अधिगम्यमान होने से दोनों कर्मकारक हैं।

सूत्र में समास सम्भव न होने की आशंका :

नन्वेवं व्याख्यायमाने तत्त्वपदस्य प्रमाणादिपदसापेक्षत्वेनासमर्थत्वात् असमासः प्राप्नोति। सापेक्षमसमर्थं भवतीत्याहुः। न चेदं प्रधानं सापेक्षम्, येन भवति वै प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समास इति राजपुरुषः शोभन इतिवत् समस्यते; उत्तरपदार्थप्रधानत्वात् षष्ठीतत्पुरुषस्य। ज्ञानमेवात्र प्रधानं, तत्त्वमुपसर्जनम्; अतश्च ऋद्धस्य राज्ञः पुरुष इतिवदसमास एव युक्तः॥

ननु ज्ञानमपि प्रमाणादिसापेक्षं भवत्येव, तद्विषयं हि तदिति—न—तत्त्वपदेनास्य निराकाङ्क्षीकृतत्वात्—, तत्त्वस्य ज्ञानमिति। तदिदानीं तत्त्वमेव सापेक्षं वर्तते—कस्य तत्त्वमिति। तस्मात्तत्त्वस्योपसर्जनस्य सतः सापेक्षत्वादसमास एव॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इत्येवमभिशङ्कमाना केचन—तत्त्वं च तत् ज्ञानं च इति कर्मधारयं व्याचचक्षिरे—तत्पुनरयुक्तम्—ज्ञानस्य स्वतस्तत्त्वातत्त्वविभागाभावात्। विषयकृतो हि ज्ञानानां तथाभावोऽतथाभावो वा। तदेतत् तत्त्वविषयज्ञानं भवति, न स्वतस्तत्त्वस्वभावम्॥

यहां शंका उठ सकती है कि इस प्रकार व्याख्या करने पर तो 'तत्त्व' पद के प्रमाणादि पदों के सापेक्ष होने से वे पद (परस्पर) समास के लिए असमर्थ होंगे, अतः उनका समास नहीं हो सकेगा क्योंकि सापेक्ष पद समास के लिए असमर्थ कहे गये हैं। यहां (तत्त्वज्ञान में) दोनों पद सापेक्ष होते हुए कोई पद प्रधान नहीं है क्योंकि यदि दोनों पद सापेक्ष हों और उनमें से उत्तर पद प्रधान हो तो समास सम्भव है। जैसे—'राजपुरुष सुन्दर है' ऐसा समास यहां हो सकता था। षष्ठी तत्पुरुष समास में उत्तरपद का अर्थ ही प्रधान होने से यहां 'ज्ञान' ही प्रधान है, तत्त्व उसका उपसर्जन (गौण) है (अतः 'तत्त्व' पद सापेक्ष होने पर भी प्रधान नहीं है) इसलिए 'ऐश्वर्यशाली राजा का पुरुष' इस उदाहरण के समान यहां असमास (मानना) ही उचित है।

यहां पुनः शंका होती है कि ज्ञान भी तो प्रमाणादिसापेक्ष ही होता है, क्योंकि वह (ज्ञान) तत्त्वविषयक है। (वह ठीक) नहीं, क्योंकि 'तत्त्व' पद के द्वारा उसे निरपेक्ष बना दिया गया है। 'तत्त्व का ज्ञान'—यहां तो तत्त्व ही सापेक्ष है क्योंकि यह प्रश्न उठता है कि तत्त्व किसका? (इस प्रश्न से ही तत्त्व की सापेक्षता सूचित होती है)। इसलिए तत्त्व के उपसर्जन रूप होने के कारण उसके सापेक्ष होने से असमास ही है।

ऐसी शंका होने पर कुछ लोग इस भांति समाधान करते हैं कि 'तत्त्व (रूप) ज्ञान'—इस विग्रह से यहां कर्मधारय समास है। किन्तु वह भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान स्वयं में तत्त्व और अतत्त्व रूप से विभक्त नहीं होता। ज्ञान का वैसा होना या न होना विषय पर निर्भर है। इसलिए ज्ञान तत्त्वविषयक होता है, स्वयं तत्त्वस्वभाव नहीं होता।

सिद्धान्तमतानुसार समास का समर्थन

किं पुनरिदं तत्त्वं नाम? सतोऽसतो वा वस्तुनः प्रमाणपरिनिश्चितस्वरूपं शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तदित्युच्यते। तस्य भावस्तत्त्वमिति। तच्च ज्ञानेन निश्चीयते। तत् परिच्छिन्द्यत् ज्ञानं तत्त्वज्ञानमित्युच्यते। ज्ञानस्यापि तद्रूपं ज्ञानान्तरपरिच्छेद्यमेव भवति। 'निर्णय' तत्त्वाश्च प्रमाणादय इति व्यतिरेकनिर्देश एव युक्तः। न चासमासप्रसङ्गमात्रात् अन्यथा वर्णनमुचितम्। ईदृशानां समासानां सामर्थ्यानपायेन बहुशो दृष्टत्वात्—देवदत्तस्य गुरुकुलमिति। उपसर्जनं नोपसर्जनमिति न कारणमेतत् समासे। विग्रहवाक्यसमानार्थतया समासो भवति, सा चेह विद्यत एव। वैय्याकरणा अपि ईदृंशि पदानि समस्यन्त्येव। 'अथ शब्दानुशासनं, केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानां च' इति। तस्माद्यथाभाष्यमेव षष्ठीत्रयव्याख्यानमनवद्यम्॥

फिर भला यह तत्त्व क्या है? 'तद्' वह है जो सत् या असत् वस्तु के प्रमाण से सुनिश्चित स्वरूप वाला तथा शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। उस 'तद्' का

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भाववाचक रूप 'तत्त्व' है। और उस का निश्चय ज्ञान से होता है। उस तत्त्व को परिच्छिन्न करने वाला (असंदिग्ध बनाने वाला) ज्ञान तत्त्वज्ञान कहा जाता है। ज्ञान का भी वह रूप यानि 'तत्त्वज्ञान' दूसरे ज्ञानों से ही परिच्छिन्न होता है। प्रमाणादि पदार्थों का तत्त्व भी निर्णेय है, इसलिए तत्त्व और ज्ञान का पृथक्-पृथक् रूप से कथन ही ठीक है (उनमें समास मानना ठीक नहीं है)। और असमास के प्रसंग मात्र से ही अन्यथा वर्णन (समास रूप में) उचित नहीं है क्योंकि अनेक बार इस प्रकार के समासों का सामर्थ्यवान् होना देखा जाता है, जैसे—'देवदत्त का गुरुकुल'।[33] यहां उपसर्जन वस्तुतः उपसर्जन नहीं है, न ही वह (प्रधान होने से) समास का कारण है। विग्रह वाक्य की समानार्थता के कारण भी समास होता है और वह कारण यहां मौजूद है। वैयाकरण भी इसी प्रकार के पदों में समास करते हैं, जैसे—'अब शब्दानुशासन किया जायेगा। किन शब्दों का अनुशासन? लौकिक और वैदिक शब्दों का'। (यहां लौकिक और वैदिक—इन समासरहित पदों का अध्याहार करने से 'शब्दानुशासन' इस समस्त पद का विग्रह और अन्वय ठीक बैठता है)। इसलिए भाष्यकार के अनुसार ही प्रथम न्यायसूत्र में प्रयुक्त तीनों षष्ठी-प्रयोगों[34] की व्याख्या करना उचित है।

षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति का प्रतिपादन

ननु षोडशपदार्थतत्त्वज्ञानस्य कथं निश्रेयसाधिगमहेतुत्वमिति वक्तव्यम्। वेदप्रामाण्यसिद्ध्यर्थं 'चेदं शास्त्रमिति' तावन्मात्रमेव व्युत्पाद्यतां, किं षोडशपदार्थकन्थाग्रन्थनेन—उच्यते—

1. आत्मापवर्गपर्यन्तद्वादशविधप्रमेयज्ञानं तावत् अन्यज्ञानानौपयिकमेव साक्षादपवर्गसाधनमिति वक्ष्यामः। तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञाननिरासे सति तन्मूलः संसारो निवर्तत इति प्रमेयं तावदवश्योपदेश्यम्॥

2. तस्य तु प्रमेयस्यात्मादेरपवर्गसाधनत्वाधिगम आगमैकनिबन्धनः॥

तस्य प्रामाण्यनिर्णीतिरनुमाननिबन्धना।
आप्तोक्तत्वं च तल्लिङ्गमविनाभावि वक्ष्यते ॥27॥

प्रतिबन्धग्रहे तस्य प्रत्यक्षमुपयुज्यते।
कोऽन्यस्सन्तरणे हेतुरनवस्थामहोदधेः ॥28॥

आयुर्वेदादिवाक्येषु 'दृष्ट्वा' प्रत्यक्षतः फलम्।
वचः प्रमाणमाप्तोक्तमिति 'निर्णीयते' यतः ॥29॥

उपमानं तु क्वचित् कर्मणि सोपयोगं—इत्येवं चतुष्प्रकारमपि प्रमाणं प्रमेयवदुपदेष्टव्यम्॥

पूर्वपक्ष की ओर से जिज्ञासा होती है कि सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान कैसे निःश्रेयस् की प्राप्ति का हेतु हो सकता है? इतना ही कहिए कि इस शास्त्र की रचना वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए हुई है, सोलह पदार्थों का ताना-बाना बुनने से क्या लाभ?

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

इसका उत्तर है कि—(1) आत्मा से लेकर अपवर्गपर्यन्त बारह प्रकार के प्रमेयों का ज्ञान किसी अन्य उपाय से लभ्य नहीं है और वे ही साक्षात् अपवर्ग के साधन हैं—यह आगे बताया जायेगा। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का निराकरण होने पर उस मिथ्याज्ञान के मूल में विद्यमान संसार की निवृत्ति होती है, इसलिए **प्रमेय**[35] का उपदेश अवश्य करना चाहिए।

(2) उन आत्मा आदि प्रमेयों के द्वारा अपवर्ग की साधनता का ज्ञान होता है और उसमें आगम (श्रुति) ही एकमात्र उपाय है।

उस (आगम) के प्रामाण्य का निर्णय अनुमान पर निर्भर करता है और आप्तोक्तत्व उसका अविनाभावि लिंग है, यह (आगे) बताया जायेगा।

उस अनुमान के 'प्रतिबन्ध' (व्याप्ति) का ग्रहण होने में प्रत्यक्ष की उपयोगिता होती है अन्यथा अनवस्था रूप महासागर को पार करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

क्योंकि आयुर्वेद आदि शास्त्रों के वचनों में प्रत्यक्ष से फल को देखा जाता है, अतः आप्तोक्त वचनों के प्रामाण्य का निर्णय भी प्रत्यक्ष से किया जाता है।

उपमान तो कहीं-कहीं कर्म में उपयोगी होता है (जैसे 'गवयमालभेत' इत्यादि में)—इसलिए चारों प्रकार के **प्रमाणों** का भी प्रमेय की भांति उपदेश देना उचित है।

3. संशयादयस्तु पदार्था यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तोऽपि न्यायप्रवृत्तिहेतुत्वात् पृथगुपदिश्यन्ते। न्यायश्च वेदप्रामाण्यप्रतिष्ठापनपूर्वकत्वेन पुरुषार्थोपयोगित्वमुपयातीति दर्शितम्॥

तत् नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीते प्रवर्तते।
किन्तु संशयिते न्यायः, तदङ्गं तेन संशयः ॥30॥

(3) संशयादि पदार्थ यथासम्भव प्रमाणों और प्रमेयों में समाविष्ट हो सकते हैं (जैसे संशय का बुद्धि में, प्रयोजन का फल में, दृष्टान्त और सिद्धान्त का यथास्थल आत्मा आदि में और कभी प्रमाण आदि में, अवयव का शब्द प्रमाण में, तर्क और निर्णय का बुद्धि में, वाद, जल्प और वितण्डा का शब्द में, हेत्वाभास का यथासम्भव, छल और जाति का शब्द में तथा निग्रहस्थान का यथासम्भव अन्तर्भाव किया जा सकता है)—फिर भी न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति के कारण उनका पृथक् उपदेश किया गया है। और न्यायशास्त्र वेद के प्रामाण्य की प्रतिष्ठा करके ही पुरुषार्थ की उपयोगिता प्राप्त करता है, यह कहा गया है—

न्यायशास्त्र न तो अनुपलब्ध अर्थ के विषय में प्रवृत्त होता है और न ही असंदिग्ध अर्थ के विषय में, अपितु संशयित अर्थ के विषय में ही प्रवृत्त होता है, इसलिए संशय न्यायशास्त्र का अंग है।

4. प्रयोजनमनुद्दिश्य न च न्यायं प्रयुञ्जते।

5. दृष्टान्तः पुनरेतस्य सम्बन्धग्रहणास्पदम् ॥31॥

6. सिद्धान्तोऽपि प्रापणेनाश्रयासिद्धितामपोद्धरत् न्यायं प्रवर्तयति॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

ननु संशयपदेन न्यायविषयं संदिग्धं धर्मिणमभिदधता आश्रयासिद्धिरपोद्धृतैव— सत्यम्— क्वचित्तु विषये संशयमन्तरेणापि न्यायप्रवृत्तिर्दर्शयिष्यत इति संशयितैकविषयन्यायनियमाभावात् सिद्धान्तोऽपि वक्तव्यः ॥

7. न्यायाभिधानेऽवयवाः परं प्रत्युपयोगिनः ।
परार्थमनुमानं च तदाहुर्न्यायवादिनः ॥32 ॥

(4) और बिना किसी प्रयोजन के कोई न्याय का प्रयोग नहीं करता (अतः प्रयोजन के पृथक् ग्रहण की आवश्यकता है)।

(5) दृष्टान्त इस (न्याय) के सम्बन्ध को ग्रहण करने का आधार है (अतः उसका पृथक् निर्देश किया गया है)।

(6) सिद्धान्त भी साध्यरूपी धर्म की प्राप्ति के द्वारा 'आश्रयासिद्धि'[36] का परिहार करते हुए न्याय (पञ्चावयव वाक्य) की प्रवृत्ति कराता है।

यहां शंका हो सकती है कि 'संशय' पद के द्वारा न्याय के विषय अर्थात् संदिग्ध धर्मी का कथन करने से ही आश्रयासिद्धि का निराकरण हो जाता है (इसलिए सिद्धान्त के पृथक् निरूपण की आवश्यकता नहीं)। (शंका समाधान करते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि) आपका कथन ठीक है, किन्तु न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति कुछ विषयों में संशय के बिना भी होती है;[37] अतः संशय ही न्याय की प्रवृत्ति का एकमात्र हेतु है, ऐसा कोई नियम नहीं है।[38] इसलिए सिद्धान्त का भी (अलग से) कथन करना चाहिए।

(7) न्यायशास्त्र के विवेचन में 'अवयव' का कथन भी दूसरों को ज्ञान कराने के लिए उपयोगी है, इसलिए न्यायाचार्यों ने उसे परार्थानुमान कहकर उसका वर्णन किया है।

ननु प्रतिज्ञोदाहरणाभ्यां तदभिधेयौ सिद्धान्तदृष्टान्तौ गम्येते एव; किं पृथगुपादानेन? यद्येवं हेत्वाख्येनावयवेन तदभिधेयसिद्धेरनुमानमपि पृथक् न वक्तव्यं स्यात्। एवं भवतु किं नश्छिन्नम्—मैवम्—अभिधेये न्याये निरूपणीये तदभिधायिनामवयवानामवसर इति तदर्थः पृथक् प्रतिपादनार्हो भवति। इतरथा अवयवमात्रोपदेश एव शास्त्रं समाप्येत॥

प्रश्न उठता है कि प्रतिज्ञा और उदाहरण के द्वारा उनसे अभिव्यक्त 'सिद्धान्त' और 'दृष्टान्त' का ज्ञान हो ही जाता है, फिर उन दोनों—(सिद्धान्त और दृष्टान्त) का पृथक् ग्रहण करने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि यदि ऐसा है, तब तो अवयव से ही उसके अभिधेय की सिद्धि हो जाने से अनुमान का भी पृथक् कथन नहीं करना चाहिए। (पूर्वपक्ष की ओर से कहा जाता है कि यह तो इष्टापत्ति ही है)—ऐसा ही होने दो, इसमें हमारी क्या हानि? सिद्धान्ती का उत्तर है कि ऐसा ठीक नहीं, क्योंकि अभिधेय न्याय का निरूपण करने पर ही उसके अभिधायक अवयवों का निरूपण उचित है, इसलिए उसका (अनुमान का) पृथक् निरूपण करना ठीक है, अन्यथा तो केवल अवयवों का उपदेश करने पर ही शास्त्र की समाप्ति माननी होगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

8. तर्कः —संशयविज्ञानविषयीकृततुल्यकल्पपक्षद्वयेऽन्तरपक्षशैथिल्यसमुत्पादनेन तदितरपक्षविषयं प्रमाणं अक्लेशसंपद्यमाःनप्रतिपक्षव्युदासमनुगृह्णाति मार्गशुद्धिमादधान इति पृथगुपदिश्यते ॥

स चाशयशुद्धिमुपदर्शयितुं वादे प्रयोक्ष्यते ॥

9. अन्यतराधिकरणनिर्णयमन्तरेण न पर्यवस्यति न्याय इति न्यायोपरमकारणत्वेन तस्य प्रवर्तको निर्णयः। इतरथा निरवसानमनासादितफलं को नाम न्यायमारभेत ॥

(8) 'तर्क' संशयज्ञान द्वारा विषयरूप में प्रस्तुत किये गये तुल्य प्रतीत होने वाले दो पक्षों में से एक पक्ष की शिथिलता प्रकट करते हुए दूसरे पक्ष को प्रमाण सिद्ध करता है और इस तरह प्रतिपक्ष का निरसन करते हुए (ज्ञाता को) निश्चिन्तता की प्राप्ति कराता है और उसके मार्ग को स्पष्ट करता है, इसलिए 'तर्क' का पृथक् कथन किया है। और वह तर्क अभिप्राय की स्पष्टता दिखाने के लिए 'वाद'[39] में प्रयुक्त किया जाता है।

(9) न्याय किसी एक विषय के निर्णय के बिना समाप्त नहीं होता, इसलिए न्याय (अनुमान) के उपरम का कारण होने से निर्णय ही उसका प्रवर्त्तक है (निर्णय न्याय की प्रवृत्ति और उपरति दोनों का कारण है)—अन्यथा जिसकी समाप्ति न हो और जिससे कुछ फल न मिले, ऐसे न्याय का आरम्भ (प्रयोग) कौन करेगा?

ननु तत्त्वज्ञानपदेन गतार्थत्वान्न पृथक् वक्तव्यो निर्णयः। निर्णयो हि तत्त्वज्ञानमेव—अस्त्येतत्—किन्तु षोडशपदार्थतत्त्वज्ञानं प्रमाणान्तरकरणकमपि भवति। न तस्य न्यायोपरमहेतुत्वम्। एष तु साधनदूषणसरणिक्षोदजन्मा निर्णयः तदुपरमहेतुः पृथगुपादानमन्तरेण न लभ्यते ॥

यहां शंका होती है कि 'तत्त्वज्ञान' पद में ही समाविष्ट हो जाने से निर्णय का पृथक् कथन करने की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान ही निर्णय है। इस शंका का उत्तर दिया जा रहा है कि—ठीक है, किन्तु सोलह पदार्थों का तत्त्वज्ञान दूसरे प्रमाणों का भी करण होता है। वह तत्त्वज्ञान न्याय के उपरम का हेतु नहीं है, निर्णय ही उसके उपरम का हेतु है क्योंकि इसका जन्म साधन को दूषित करने वाले मार्ग के विनाश के लिए हुआ है, इसलिए इसे माने बिना कोई उपाय नहीं।

ननु अनुमानपदादेष तर्हि यथाभिलषितो लप्स्यते निर्णयः। प्रतिबद्धाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं; स एव च निर्णयः तदयुक्तम्—अनुमानफलं निर्णयः, नानुमानम्। करणस्य प्रमाणत्वान्निर्णयोपादानमन्तरेण तदनुमानमफलमपर्यवसितं स्यात् ॥

पुनः आपत्ति होती है कि अनुमान पद से ही अभीष्ट निर्णय की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि प्रतिबद्ध (व्याप्त) लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान अनुमान है और वही निर्णय है। वह आपत्ति अनुचित है क्योंकि निर्णय तो अनुमान का फल है, स्वयं अनुमान नहीं। करण के प्रमाण होने से निर्णय को माने बिना वह अनुमान निष्फल और अपूर्ण रहेगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उभाभ्यां तर्हि तत्त्वज्ञानानुमानपदाभ्यां अयमाक्षेप्स्यते निर्णयः; अनुमानस्य तत्त्वज्ञानान्तत्वात्—न—निर्णयोपादानाद्विना तदन्तत्वासिद्धेः; लिङ्गाभाससमुत्थतत्त्वज्ञानाभाससम्भवात् ॥

(पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप होता है कि) तव तो **तत्त्वज्ञान और अनुमान दोनों पदों** से निर्णय का ग्रहण होगा क्योंकि अनुमान का अन्त तत्त्वज्ञान में होता है। (सिद्धान्त पक्ष का उत्तर है कि) नहीं, निर्णय को माने बिना उसका अन्त सिद्ध नहीं हो सकता, क्यौंकि (अनुमान में) लिंगाभास (हेत्वाभास) से उत्पन्न तत्त्वज्ञान का आभास (विपर्यय) भी सम्भव है। अतः निर्णय की आवश्यकता अनुमान एवं लिंगाभास में भेद करने के लिए होती है।

ननु संशयपूर्वकत्वादनुमानस्य सामर्थ्यात् निर्णयान्ततैव भविष्यति इति संशयानुमानतत्त्वज्ञानपदैर्गतार्थो निर्णयः—मैवम्—संशयपूर्वकत्वेऽप्यनुमानस्य तदाभासोपजनितनिर्णयाभाससम्भवात् ॥

नैष नियमः—संशयपूर्वकमनुमानमिति। तस्मादनुमानस्य विशिष्टनिर्णया वसानत्वलाभाय निर्णयपदमुपादेयमित्यलं प्रसङ्गेन ॥

पुनः पूर्वपक्ष की ओर से आपत्ति होती है कि अनुमान के सामर्थ्य के संशयपूर्वक होने से निर्णय की आवश्यकता नहीं रहेगी क्योंकि **संशय, अनुमान और तत्त्वज्ञान**—इन तीनों से निर्णय का प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। इस पर सिद्धान्ती का समाधान है कि यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अनुमान के संशयपूर्वक होने पर भी उसके आभास से उत्पन्न निर्णयाभास सम्भव है।

और ऐसा कोई नियम नहीं है कि अनुमान संशयपूर्वक होता है। इसलिए अनुमान के विशिष्ट (चरम) निर्णय की समाप्ति तक पहुंचने के लिए निर्णय पद को मानना ही उपयोगी है, अतः इस विषय में अधिक विस्तार से कोई लाभ नहीं।

10. वादे तु विचार्यमाणे न्यायः संशयच्छेदनेनाध्यवसितावबोधं अध्यवसिताभ्यनुज्ञां च विदधत् तत्त्वपरिशुद्धिमादधातीति वीतरागैः शिष्यसब्रह्मचारिभिस्सह वादः प्रयोक्तव्यः ॥

(10) वाद का विचार करने पर कहा जा सकता है कि न्याय संशय का नाश करता है, निश्चित ज्ञान को देता है और उस निश्चित ज्ञान को पूर्व उपलब्ध ज्ञान से संवादी बनाता हुआ तत्त्व को प्राप्त कराता है। इसलिए वीतरागियों[40] को शिष्यों और ब्रह्मचारियों के साथ वाद का प्रयोग करना चाहिए।

11-12. जल्पवितण्डे तु दुष्टतार्किकोपरचितकपटदूषणाडम्बरसन्त्रास्यमानसरलमतिसमाश्वासनेन तद्धृदयस्थतत्त्वज्ञानसंरक्षणाय क्वचिदवसरे वीतरागस्याप्युपयुज्येते इति वक्ष्यामः ॥

(11-12) जल्प और वितण्डा तो दुष्ट तार्किकों द्वारा रचित कपटपूर्ण, दूषित आडम्बरों द्वारा संत्रस्त किये जाने वाले सरलमति व्यक्तियों को समाश्वस्त करके उनके हृदय में स्थित तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए कभी-कभी वीतरागियों के लिए भी उपयोगी होते हैं, यह आगे बताया जायेगा।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

13. हेत्वाभासाः सम्यङ्न्यायप्रविवेकोपकारद्वारेण तदुपयोगिनः। हेत्त्वाभास-स्वरूपावधारणे हि सति तद्विलक्षणतया हेतवस्सुखमवगम्यन्ते ॥

नन्वत्र विपर्ययो दृश्यते; हेत्ववगमे सति तदितरहेत्वाभास व्यवस्थापनात्—सत्यमेवम्—तथाऽपि 'प्रयोक्तुं परिहर्तुं च' द्वयमपि ज्ञेयम्। हेतवः प्रयुज्यन्ते, हेत्वाभासाश्च परिह्रियन्त इति ॥

यच्च निग्रहस्थानपरिगणिता अपि हेत्वाभासाः पुनरुपदिश्यन्ते, तत् वादे चोदनीया भविष्यन्तीत्याशयेन ॥

(13) हेत्वाभास भी प्रामाणिक (वैध) न्याय के विवेक (अप्रामाणिक से भेद) का साधन होने से उपयोगी होते हैं, क्योंकि हेत्वाभासों के स्वरूप का निश्चय हो जाने पर उनसे विपरीतं होने के कारण हेतुओं का ज्ञान सुगमता से हो जाता है।

पूर्वपक्षी शंका करता है कि (व्यवहार में) इसका उलटा दिखाई देता है यानि हेतुओं का ज्ञान हो जाने पर उनसे विपरीत रूप में हेत्वाभासों का निश्चय होता है। सिद्धान्तपक्ष का उत्तर है कि यह ठीक है, फिर भी प्रयोग और परिहार करने के लिए दोनों का ज्ञान होना चाहिए—हेतुओं का प्रयोग किया जाता है और हेत्वाभासों का परिहार किया जाता है।

और जो निग्रहस्थान में गिने गये हेत्वाभासों का पुनः उपदेश किया जाता है, वह इस आशय से किया जाता है कि उनका वाद में प्रयोग किया जाना चाहिए।

14-16. छलजातिनिग्रहस्थानानि जल्पवितण्डोपकरणानि। तेषामवधृतस्वरूपाणां स्ववाक्ये परिवर्जनं, क्वचिदवसरे प्रयोगः, परप्रयुक्तानां च प्रतिसमाधानं, इत्यादि शक्यक्रियम्। अतस्तान्यपि जल्पवितण्डाङ्गत्वात् ज्ञातव्यानीति पृथगुपदिश्यन्ते ॥

(14-16) छल, जाति और निग्रहस्थान—ये तीनों जल्प और वितण्डा के उपकरण हैं। उनका स्वरूप ज्ञात हो जाने पर अपने वाक्य में परिहार, कहीं-कहीं अवसर आने पर प्रयोग और दूसरों द्वारा प्रयुक्त किये जाने पर प्रतिसमाधान आदि करना सम्भव है। इसलिए जल्प और वितण्डा के अंगरूप में उनका ज्ञान भी अनिवार्य है, अतः उनका पृथक् कथन किया गया है।

दुश्शिक्षितकुतर्कांशलेशवाचालिताननाः।
शक्याः किमन्यथा जेतुं वितण्डाटोपपण्डिताः ॥33 ॥

गतानुगतिको लोकः कुमार्गंतत्प्रतारितः।
मा गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनः ॥34 ॥

तदेवमुपदेष्टव्याः पदार्थाः संशयादयः।
तन्मूलन्यायनिर्णयवेदप्रामाण्यसिद्धये ॥35 ॥

तेनागमप्रमाणत्वद्वाराऽखिलफलप्रदा
इयमान्वीक्षिकी विद्या विद्यास्थानेषु गण्यते ॥36 ॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

आह च भाष्यकारः—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयस्सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता॥

कुतर्कों के स्वल्पमात्र ज्ञान से दुःशिक्षित और वाचाल मुख वाले, वितण्डा के अभिमान से पण्डित बने हुए लोगों को और किस भांति जीता जा सकता है?

साधारण जन तो अनुकरणप्रिय होते हैं, अतः उन मिथ्याज्ञानी जनों द्वारा ठगे जाने पर कुमार्ग की ओर न चल पड़ें, इसलिए करुणापरायण मुनि गौतम ने छल आदि पदार्थों का उपदेश दिया है।

इस भांति संशय आदि पदार्थों का प्रतिपादन करना चाहिए क्योंकि उन पदार्थों का मूल आधार न्यायशास्त्र है और न्यायशास्त्र का उद्देश्य वेद के प्रामाण्य का निर्णय करना है।

अतः आगम यानि वेद की प्रमाणता के द्वारा समग्र फल[41] देने वाली यह आन्वीक्षिकी विद्या विद्यास्थानों में गिनी जाती है।

भाष्यकार (वात्स्यायन) ने भी कहा है—यह आन्वीक्षिकी विद्या सारी विद्याओं के लिए प्रदीप के समान, सारे कर्मों के लिए उपायभूत और सारे धर्मों का आश्रयस्वरूप है, ऐसा 'विद्योद्देश' नामक नीतिशास्त्र प्रकरण में कहा गया है।

इत्येष षोडशपदार्थनिबन्धनेन
निःश्रेयसस्य मुनिना निरदेशि पन्था।
अन्यस्तु सन्नपि पदार्थगणोऽपवर्ग-
मार्गोपयोगविरहादिह नोपदिष्टः ॥37॥

इस प्रकार मुनि गौतम ने षोडश पदार्थों के विवेचन द्वारा निःश्रेयस् का यह मार्ग निर्दिष्ट किया है। अन्य पदार्थ समूह (इन सोलह पदार्थों के अलावा) होने पर भी अपवर्ग-मार्ग के लिए उपयोगी न होने से उसका कथन यहां नहीं किया गया।

शास्त्र की प्रवृत्ति का प्रकार

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः—उद्देशः, लक्षणं, परीक्षा चेति। नामधेयेन पदार्थाभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य तल्लक्षणमुपपद्यते न वेति विचारः परीक्षा॥

इस न्यायशास्त्र की प्रवृत्ति (पद्धति) तीन प्रकार से होती है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। नाम से पदार्थों का कथन उद्देश (निर्देश) है। कहे गये पदार्थों के तत्त्व का व्यवस्थापक (निर्धारक) धर्म लक्षण है। लक्षित किये गये पदार्थ का वह लक्षण उपयुक्त है या नहीं, यह विचार परीक्षा है।

ननु च विभागलक्षणा चतुर्थ्यपि प्रवृत्तिरस्त्येव। भेदवत्सु प्रमाणसिद्धान्तच्छलादिषु तथा व्यवहारात्—सत्यम्—प्रथमसूत्रोद्दिष्टे भेदवति पदार्थे भवत्येव विभागः; उद्देशरूपानपायात्तु उद्देश एवासौ। सामान्यसंज्ञया कीर्तनमुद्देशः, प्रकारभेदसंज्ञया कीर्तनं विभाग इति। तथा चोद्देशतयैव तत्र तत्र भाष्यकारो व्यवहरति 'अयथार्थः प्रमाणोद्देशः'—इत्याक्षेपे—'तस्माद्यथार्थ एव प्रमाणोद्देशः' इति समाधानमभिदधानः। तस्मात् त्रिविधैव प्रवृत्तिः॥

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

यहां शंका हो सकती है कि 'विभाग' नामक चौथी प्रवृत्ति भी तो होती है क्योंकि भेदयुक्त प्रमाण, सिद्धान्त और छल आदि पदार्थों में उसका व्यवहार होता है। उसका उत्तर है कि—ठीक है, प्रथम सूत्र में कहे गये भेदयुक्त पदार्थों में विभाग तो होता ही है, किन्तु उद्देश के रूप से भिन्न न होने के कारण वस्तुतः वह उद्देश ही है। सामान्य नाम से कहा जाना उद्देश है और प्रकारों के भेद से कहा जाना विभाग है। और भाष्यकार भी जहां-तहां उद्देश के रूप में ही इस (विभाग) का प्रयोग करते हैं, जैसे—'प्रमाणों का उद्देश अयथार्थ है' इस आक्षेप-वचन में उद्देश शब्द का प्रयोग विभाग के अर्थ में ही किया गया हैं तथा 'इसलिए प्रमाणों का उद्देश यथार्थ है' इस कथन में उपर्युक्त आक्षेप का समाधान करते हुए उद्देश शब्द का प्रयोग विभाग के अर्थ में किया गया है। अतः (शास्त्र की) प्रवृत्ति तीन ही प्रकार की है।

तत्रोद्देशः प्रथममवश्यं कर्तव्यः। अनुद्दिष्टस्य लक्षणपरीक्षानुपपत्तेः। सामान्य-विशेषलक्षणयोरपि पौर्वापर्यनियमोऽस्त्येव। अलक्षिते सामान्ये विशेषलक्षणावसराभावात्। परीक्षा तु लक्षणोत्तरकालभाविनीति तत्स्वरूपनिरूपणादेव गम्यते। विभागसामान्यलक्षण-योस्तु नास्ति पौर्वापर्यनियमः। पूर्वं वा सामान्यलक्षणं ततो विभागः, पूर्वं वा विभागः ततस्सामान्यलक्षणमुच्यत इति। तदिहोद्देशस्तावद्व्याख्यातः। अस्माभिस्तु लक्षणसूत्राण्येव व्याख्यास्यन्ते। परीक्षासूत्रसूचितं तु वस्तु सोपयोगलक्षणवर्णनावसर एव यथाबुद्धि दर्शयिष्यते; न पृथक् परीक्षासूत्रविवरणश्रमः करिष्यते। अत एव प्रथमसूत्रानन्तरं 'दुखजन्म—' इत्यादि द्वितीय सूत्रं लक्षणानौपयिकत्वान्नेह विवृतम्। अपवर्गपरीक्षाशेषभूतत्वात्तु तदवसर एव निर्णयिष्यते॥

उनमें से भी पहले उद्देश अवश्य करना चाहिए क्योंकि अनुद्दिष्ट (जिसका निर्देश न किया गया हो) का लक्षण और परीक्षा करना तो अनुचित ही है। सामान्य और विशेष लक्षणों में भी पौर्वापर्य का नियम तो होता ही है क्योंकि जब तक सामान्य रूप से लक्षण न दिया जाये तब तक विशेष लक्षण का औचित्य नहीं होता। 'परीक्षा' तो लक्षण के बाद ही होती है, ऐसा उसके स्वरूप-निरूपण से ही स्पष्ट हो जाता है। विभाग और सामान्य लक्षण—इन दोनों में पौर्वापर्य का कोई नियम नहीं है। या तो पहले सामान्य लक्षण होता है, फिर विभाग, या पहले विभाग होता है तब सामान्य लक्षण कहा जाता है। इस प्रकार यहां उद्देश की व्याख्या की गई है। (प्रस्तुत ग्रन्थ में) हमारे द्वारा केवल लक्षण-सूत्रों की ही व्याख्या की जायेगी। परीक्षा सूत्रों में सूचित विषय तो परीक्षोपयोगी लक्षणों का वर्णन करते समय ही यथामति दिखाया जायेगा, अलग से परीक्षा सूत्रों के विवरण का प्रयास नहीं किया जायेगा। इसीलिए प्रथम (पदार्थोद्देशपरक) न्यायसूत्र के पश्चात् 'दुःखजन्म . . . इत्यादि द्वितीय सूत्र लक्षण की दृष्टि से उपयोगी न होने के कारण यहां व्याख्यात नहीं किया गया, अपवर्ग की परीक्षा का एक अंग होने से उसी अवसर पर उसकी चर्चा की जायेगी।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

पादटिप्पणियां एवं सन्दर्भ

1. पाठभेद — 'कुण्डलाम्'
2. पाठभेद — 'निदानं'
3. शिवजी अर्धनारीश्वर कहे जाते हैं और उनके मस्तक पर वामभाग में चन्द्रकला विराजमान है, अतः पार्वती उनका वामार्ध भाग होने से चन्द्रकिरणों द्वारा अलंकृत केशों वाली कही गई हैं।
4. जयन्तभट्ट ने स्वयं अपने ग्रन्थ के अन्त में 'न्यायोद्गारगभीरनिर्मलगिरा गौरीपतिस्तोषितो वादे येन' कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि महर्षि गौतम को शिवजी से वरदान प्राप्त हुआ था। शैवपुराण (उमासंहिता, द्वितीय अध्याय) में भी कहा गया है—'इत्येवं शंकरात् प्राप वरं मुनिवरस्सवै'।
5. पाठभेद —'परिशर्म'
6. पाठभेद — 'मेतत्'
7. पाठभेद — संविधानम्
8. अन्वय—'कारणाधिकरणे कार्यस्य सत्त्वम्'। (कारण के साथ-साथ कार्य का पाया जाना) न्यायकोश, पृ. 46

   व्यतिरेक—'कारणाभावाधिकरणे कार्यासत्त्वम्। (कारण के अभाव के साथ-साथ कार्य का न पाया जाना।) न्यायकोश, पृ. 817
9. 'सिद्धसाधनभाव—प्रमाणान्तरेणावगतसाधनम्'। न्यायकोश, पृ. 1019। जहां साध्य या विषय पहले से किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध हो, अर्थात् उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं हो।
10. यद्यपि परम्परानुसार ऋग्वेद ही सर्वप्रथम माना और कहा जाता है, तथापि यहां जयन्त भट्ट ने अथर्ववेद को सबसे पहले रखा है, इस क्रम-निर्देश का कारण वे शब्द-परीक्षा प्रकरण में स्वयं स्पष्ट करेंगे।
11. ये दोनों वाक्य या तो अनुमित श्रुतिवाक्य हैं और या किसी श्रुतिवचन का अर्थानुकरण मात्र हैं। यहां दो वाक्य संभवतः इसलिए उद्धृत किये गये हैं कि पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा दोनों का प्रामाण्य प्रकट किया जा सके।
12. पाठभेद — ममायं
13. पाठभेद — प्रतरिष्यति
14. निश्चित तिथियों पर किये जाने वाले 'इष्ट' कर्म
15. लोक-कल्याण हेतु किये जाने वाले 'आपूर्त' कर्म
16. पंचम आह्निक में विध्यर्थ के विचार-प्रसंग में
17. पाठभेद — 'कल्प' नहीं है
18. पाठभेद — विद्यास्थानं
19. पाठभेद — वेदार्थ
20. पाठभेद — मनुभवन्ती.
21. प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही धर्म के स्वरूपादि का निर्णय संभव है, फिर वेदार्थ-विचार क्यों किया जाये' इस शंका का निराकरण करने के लिए मीमांसा दर्शन पहले संक्षेप में प्रमाणस्वरूप का विचार करकें यह प्रतिपादित करता है कि धर्म केवल वेद से ही समधिगम्य है, अतः उस वेदार्थ का विचार ही वहां प्रमुख है, प्रमाण-विचार नहीं।
22. व्याकरण पदशास्त्र है, मीमांसा वाक्यशास्त्र और न्याय प्रमाणशास्त्र—ऐसी प्रसिद्धि है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

23. उल्लेखनीय है कि यहां प्रमाण-व्यवस्था, प्रत्यक्ष प्राधान्य और प्रमाण-तुल्यबलत्व के सिद्धान्तों का समर्थन न करते हुए प्रमाणों में परस्पर अनुग्राहकता का प्रतिपादन किया गया है।
24. आशय यह है कि जो सज्जन वेद के प्रति श्रद्धालु हैं उनकी आस्था अविचल होने से उन्हें तो वेद के प्रामाण्य के विषय में समझाना या उसके लिए प्रयास करना व्यर्थ है ही। दूसरी ओर जो जन नास्तिक हैं और अनेकशः समझाये जाने पर भी वेद के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके प्रति भी ऐसा प्रयास करना व्यर्थ है—इसलिए इस शास्त्र का कोई अधिकारी ही नहीं है, अतः इसका आरम्भ करना निष्प्रयोजन है।
25. न्यायवार्त्तिककार उद्योतकराचार्य ने भी कहा है—'पुरुषः पुनश्चतुर्धा भिद्यते प्रतिपन्नोऽप्रतिपन्नः सन्दिग्धो विपर्यस्तश्च'।
26. भाव यह है कि तत्त्वज्ञान के साधन तो अनेक हैं किन्तु उनमें से तपस्या या देवताराधन आदि उपाय सबके लिए साध्य नहीं होते, अतः उनकी अपेक्षा इस शास्त्र का अध्ययन ही सरल एवं उपादेय है।
27. तात्पर्य यह है कि न्याय-शास्त्र की रचना से पूर्व जिस उपाय के द्वारा अक्षपाद मुनि निश्चित मति वाले बन गये, उसी उपाय का हमें भी आश्रय लेना चाहिए, इस न्यायशास्त्र को पढ़ने से क्या लाभ? यह तो व्यर्थ ही है।
28. 'अन्योन्याश्रय' दोष या 'चक्रक' दोष वहां होता है जहां एक वस्तु की सिद्धि के लिए दूसरी वस्तु को साधन बताया जाये किन्तु उस साधन की सिद्धि भी साध्य पर निर्भर हो। जैसे उक्त स्थल पर एक ओर तो प्रयोजन के ज्ञान से शास्त्र में प्रवृत्ति बताई गई है और दूसरी ओर सम्पूर्ण शास्त्र के अध्ययन के उपरान्त प्रयोजन का ज्ञान बताया जा रहा है—इसलिए यहां अन्योन्याश्रय दोष प्रतीत होता है।
29. यहां 'आदर' शब्द से तात्पर्य शास्त्र के प्रति श्रद्धा, रुचि, उत्सुकता एवं प्रवृत्ति है।
30. व्यापक-अनुपलब्धि का अभिप्राय है—व्यापक या प्रयोजन के न होने पर व्याप्य का भी अभाव होना चाहिए। जैसे—'जो उपादेय है वही सप्रयोजन है ऐसी व्याप्ति होने पर व्यापक प्रयोजन का अभाव होने से उपादेयत्व की निवृत्ति भी आवश्यक है'।
31. यह संशय और निश्चय के बीच की स्थिति मानी जा सकती है जो वक्ता की आप्तता के आधार पर व्यावहारिक जीवन में सम्भावना के रूप में स्वीकृत होती है। आप्तता के अनेक लक्षणों में यहां तीन लक्षण गिनाये गये हैं—पवित्रता, सदाचार और सज्जनता।
32. यहां प्रतिपाद्य विषय वाच्य है और शास्त्र उसका वाचक, इसी तरह निःश्रेयस् साध्य है और शास्त्र उसका साधन—यह तात्पर्य है।
33. 'देवदत्तस्य गुरोः कुलम्'—देवदत्त के गुरु का कुल; यहां समास होने पर 'गुरुकुल' पद बनता है।
34. 'प्रमाणादीनां, तत्त्वस्य ज्ञानं, निःश्रेयसस्याधिगमः'—इस विग्रह में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार तीन स्थलों पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग है। इनमें से प्रथम षष्ठी-प्रयोग (प्रमाणादि षोडश पदार्थों का 'तत्त्वज्ञानात्' इस समास-पद के एकदेश 'तत्त्वं' में सम्बन्ध होने के कारण) शैषिक है, अर्थात् सम्बन्ध सामान्य की विवक्षा में है तथा अन्य दोनों स्थलों पर कर्मकारक की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति है।
35. यद्यपि न्यायसूत्र के अनुसार षोडश पदार्थों में से पहले प्रमाण का ही ग्रहण किया जाना चाहिए, तथापि प्रमाण की उपादेयता प्रमेय-सिद्धि-हेतु ही होती है, इसलिए यहां पहले प्रमेय का कथन किया गया है।
36. 'सिद्धान्त' स्पष्टतः प्रतिपादित करता है कि धर्म (साध्य) निश्चित रूप से पक्ष (धर्मी) में विद्यमान है और इस प्रकार 'आश्रय या पक्ष में न रहना' अर्थात् 'आश्रयासिद्धि' का परिहार करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

37. जैसे किसी अन्य कार्य से कहीं दूर जाते हुए कोई व्यक्ति अचानक धूम देखकर अग्नि का अनुमान करता है, तव संशय के बिना भी न्याय की प्रवृत्ति देखी जाती है।
38. वेदपाठी ब्रह्मचारी होने पर भी सुने हुए विषय की दृढ़ धारणा के लिए व्यक्ति विचार में प्रवृत्त होता है, अत: यहां यह नहीं कहा जा सकता कि श्रुत विषय में उसे संशय है। इसलिए संशय के बिना भी न्याय में प्रवृत्ति सम्भव है, यह भाव है।
39. भाव यह है कि तर्क की अपेक्षा विषय-शुद्धि के लिए ही होती है, अत: वह तर्क स्वयं प्रमाण न होने पर भी प्रमाणों का अनुग्राहक है। प्रश्न हो सकता है कि यदि तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है तो सूत्रकार ने वाद-लक्षण में उसे विशेषण क्यों बनाया है (प्रमाण तर्क साधनोपलम्भ: (न्या.सू. 2/1) कहकर)। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए यहां कहा गया है कि तर्क स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है, विषय की शुद्धि के लिए ही उसकी अपेक्षा होती है। यदि तर्क प्रमाण होता तो सूत्रकार प्रमाण और तर्क का पृथक्-पृथक् निर्देश क्यों करते? वाद में भी तर्क का यही प्रयोजन है।
40. यहां वाद का विधान वीतरागियों के लिए किया गया है, साधारण जन के लिए नहीं क्योंकि, उसमें वाद के दुरुपयोग की सम्भावना रहती है।
41. वेद समग्र पुरुषार्थों का रत्नाकर है, अत: उस वेद पर प्रामाण्य स्थापित करने वाली यह आन्वीक्षिकी विद्या भी समग्र पुरुषार्थों का साधन है, यह भाव है।

दर्शन विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–110007

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उन्मीलन गोष्ठी 1

यह गोष्ठी 18 फरवी, 1996 को राजस्थान विश्वविद्यालय के गान्धी भवन में हुई। इसमें डॉ॰ दयाकृष्ण, डॉ॰ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ॰ नन्दकिशोर शर्मा, डॉ॰ मुकुंद लाठ, श्री यशदेव शल्य, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ के. एल. शर्मा तथा मैंने भाग लिया। इस गोष्ठी में डॉ॰ भटनागर ने 'हास्य' पर कुछ विचार रखे जिनका सारांश उन्हीं के शब्दों में दिया जा रहा है। इसके अनंतर इस पर श्री शल्य, डॉ॰ लाठ, प्रोफेसर दयाकृष्ण तथा डॉ॰ के. एल. शर्मा ने अपने विचार व्यक्त किये। उन के नोट्स नहीं लिये जा सके इस कारण उनका विवरण यहाँ नहीं दिया जा रहा है, केवल श्री शल्य ने अपने विचार संक्षेप में लिख कर दिये हैं जो यहाँ दिये जा रहे हैं।

डॉ॰ भटनागर के व्याख्यान का सारांश

प्रश्न यह है कि बुद्धिमान् तथा विवेकशील मनुष्य के जीवन में हास्य का कोई स्थान है क्या? उसकी कोई भूमिका है क्या? इस प्रश्न को एक अन्य अधिक व्यापक प्रश्न का रूप भी दिया जा सकता है : विवेकपूर्ण जीवन में ऐसे कार्यों, व्यवहार, तथा अनुभव के लिए क्या स्थान हो सकता है, यदि हो सकता है तो, जिनकी या तो कोई दिशा होती ही नहीं, यदि होती है तो वह विशिष्ट और गंभीर नहीं होती? इस व्यापक प्रश्न को अभी न लेकर केवल हास्य के विषय में विचार करें।

हास्य के इतने रूप तथा इतने आयाम हैं कि इन्हें लेकर सन्दर्भ निश्चित किये बिना हमारा प्रश्न सार्थक नहीं हो सकता, कम से कम उसे लेकर कोई गंभीर चर्चा नहीं की जा सकती। उम्र, अनुभव, पद तथा सामाजिक स्थिति की दृष्टि से सम अथवा असम सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में, किसी विचार, अनुभव, घटना अथवा व्यक्ति के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में, तथा सताने के आनन्द से लेकर सहभागिता के परस्पर मनोरंजन तक हास्य के अगणित विविध रूप होते हैं।

इन में से कुछ जीवन में विष घोल सकते हैं तो कुछ अन्य जीवन को जीने में सहायक सिद्ध होते हैं, कुछ सम्बन्धों को तिक्त तथा असहनीय बना देते हैं तो कुछ सम्बन्धों को मधुर तथा आत्मीय बनाते हैं। इसके अतिरिक्त, हास्य जब विषय के सन्दर्भ में एक प्रतिक्रिया का रूप लेता है तब वह विषय के मूल्यांकन में साँवेगिक घटक का रूप लेता है, तथा विषय की तीखी एवं तीव्र प्रभावात्मकता को क्षीण बनाने, एवं इस प्रकार उसके प्रति सही दृष्टि विकसित करने में योगदान करता है।

यदि हास्य के किन्हीं वांछनीय रूपों तथा आयामों को ध्यान में रखकर हम अपने प्रश्न का उत्तर तलाश करें तो उत्तर सकारात्मक होगा। परन्तु बात पूरी करने के लिए वांछनीयता के विषय में विशद विचार की अपेक्षा है। एक और बात ध्यातव्य यह है कि इस चर्चा में साहित्यिक विधा के रूप में हास्य की बात नहीं की जा सकती है। उसके लिये एक स्वतन्त्र वार्ता की अपेक्षा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री यशदेव शल्य की टिप्पणी

हास्य को परिभाषित करना बहुत कठिन है क्योंकि इसके अनेक रूप होते हैं, किन्तु इसमें दो बातें स्पष्टतः और सर्वत्र रहती हैं। एक, प्रस्तुत अर्थ को छोड़कर व्यंग्य अर्थ की वाच्यता और दूसरी, विषयी : हँसने या हँसाने वाले : के भाव की सात्त्विकता और विषय के प्रति ताटस्थ्यपूर्वक उन्मुखता। व्यंग्यार्थ की समझ अथवा व्यंग्यात्मक स्थिति का निर्माण (हास्योत्पादक रचना : चुटकुले या कार्टून आदि : में, अथवा किसी स्थिति के हास्यात्मक रूप में वर्णन आदि में) हँसने वाले और हँसाने वाले के बुद्धिमान् होने को पूर्वापेक्षित करते हैं। संभवतः हास्य और उपहास में भेद करना भी आवश्यक है। पानी को नहीं देखकर दुर्योधन के उसमें गिरने पर द्रौपदी के हँसने में हास्य नहीं है, उपहास है। हास्य का उत्कृष्टतम रूप अपने पर हँसने में उपलब्ध होता है। इस तरह भटनागर साहिब का जीवन में विष घोल सकने वाली उक्ति या हरकत को हास्य में सम्मिलित करना सही नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार उनका यह प्रश्न भी विचित्र है कि "क्या बुद्धिमान् तथा विवेकशील मनुष्य के जीवन में हास्य के लिए कोई स्थान हो सकता है?" क्योंकि केवल मनुष्य ही हँस सकता है और हास्य बुद्धिमत्ता को पूर्वपेक्षित करता है। द्रष्टव्य है कि हास्य में फूहड़ और सभ्य का भेद भी किया जाता है, और यह महत्त्वपूर्ण है, किन्तु फूहड़ हँसी में भी उपर्युक्त दो गुण होना अपेक्षित होता है।

सरला कल्ला
संयोजिका

उन्मीलन गोष्ठी 2

यह गोष्ठी 9 अप्रैल, 1996 को डॉ॰ मुकुन्द लाठ के घर पर हुई। इसमें डॉ॰ नन्दकिशोर शर्मा, डॉ॰ दयाकृष्ण, श्री यशदेव शल्य, डॉ॰ मुकुन्द लाठ, डॉ॰ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, डॉ॰ भगवती राव, डॉ॰ योगेश गुप्ता, डॉ॰ के. एल. शर्मा तथा मैंने भाग लिया। यह गोष्ठी जबलपुर विश्वविद्यालय में श्री यशदेव शल्य के दर्शन पर हुई गोष्ठी के शीघ्र ही बाद में हुई थी और उस गोष्ठी में प्रोफेसर दयाकृष्ण जा नहीं पाये थे, इसलिये उन्होंने उस गोष्ठी के सम्बन्ध में जानना चाहा। डॉ॰ मुकुन्द लाठ ने उस गोष्ठी का विवरण देते हुए संक्षेप में शल्यजी के दर्शन पर भी प्रकाश डाला। उनके अनुसार शल्यजी के दर्शन को प्रत्ययोपासना कहा जा सकता है। उन्होंने शल्यजी के दर्शन की दूसरी विशेपता एक समग्रात्मक तत्त्वमीमांसा का प्रतिपादन वतायी।

डॉ॰ लाठ के इस प्रारंभिक वक्तव्य के अनन्तर नन्दकिशोरजी ने जवलपुर गोष्ठी में प्रस्तुत अपने लेख का सारांश प्रस्तुत किया और डॉ॰ भटनागर ने जवलपुर गोष्ठी में प्रस्तुत अपने लेख के प्रतिपादन को आगे बढ़ाया। नन्दकिशोरजी और डॉ॰ भटनागर के वक्तव्य उन्हीं के शब्दों में नीचे दिये जा रहे हैं और उन पर शल्यजी का स्पष्टीकरण भी दिया जा रहा है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शल्यजी का आत्मा विषयक विचार : नन्दकिशोर शर्मा

शल्यजी एक मौलिक चिंतक हैं। उनकी मौलिकता उनकी चिंतन-विधि तथा चिंतन के विषय दोनों में समान रूप से लक्षित होती है। उनके द्वारा प्रयुक्त पदावली उनके स्वयं के द्वारा परिभाषित है तथा उसका सही सही अर्थ समझे बिना उनके दर्शन के सार-तत्त्व को समझना कठिन है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो शल्यजी के दर्शन को समझने के लिए आवश्यक है वह है उनके चिंतन की मूलगामिता। शल्यजी का दर्शन समग्रता लिए हुए है और उन्होंने एक सुव्यवस्थित तंत्र के अंतर्गत जगत् और जीवन के प्रायः सभी पक्षों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है।

शल्यजी के अनुसार आत्म-जिज्ञासा मनुष्य की सबसे मूलभूत एवं महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा है। इसी जिज्ञासा से उनका दर्शन प्रारंभ होता है तथा इसी के समाधान में उसका पर्यवसान होता है। अन्य दार्शनिक प्रश्न या समस्याएँ इसी मूल दार्शनिक जिज्ञासा के अंतर्गत अथवा उससे सम्बन्धित हैं। अपनी पुस्तक **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के प्रथम अध्याय में ही उन्होंने आधुनिक पश्चिम के तत्त्वमीमांसा-विरोध की भ्रांति दिखाते हुए उसे मनुष्य के आत्मान्वेषण के रूप में नयी भूमि दी है।

इसी पुस्तक के अध्याय दस के प्रारंभ में वे लिखते हैं—"अपने होने के अर्थ, उसके आधार और गंतव्य की जिज्ञासा मनुष्य के लक्षण जैसी कही जा सकती है।"

शल्यजी के अनुसार एक ही तत्त्व की पारमार्थिक सत्ता है तथा वह है चेतना। संसार में जो कुछ है वह इसी का पसारा है। विश्व के समस्त मूल्य एवं सत्ताएँ इसी पारमार्थिक चेतन सत्ता से प्रसूत हैं।

सूत्र रूप में यदि शल्यजी के इस मत को समझा जाये तो इसे औपनिषद मंत्र 'एकोऽहम् बहुस्याम' के रूप में समझा जा सकता है। विश्वकर्तृ चेतना इस समस्त आनुभविक जगत् को अपने ईक्षत् द्वारा अर्थ प्रदान करती हुई उसकी सृष्टि करती है। वही शुद्ध निरुपहित चैतन्य अपनी कल्पना-रूपी सर्जन-शक्ति से अपने आपको जड़-भाव, जीव-भाव तथा मानव-भाव में प्रतिष्ठित करता है। अपने इन भावों में प्रतिष्ठित होने के क्रम में वह उनसे तादात्म्य स्थापित करता है और अपने आपको उन सीमित अर्थों में ही परिभाषित करता है। उसकी यह सीमित दृष्टि उसके स्वरूप को, उसकी पारदर्शिता को अवरुद्ध करती है। यही आत्मा का बंधन है, भव है, दुःख है। किन्तु चेतना स्वरूपतः कभी भी पूर्णरूपेण आबद्ध नहीं होती। उसमें इस भाव से उत्क्रमण का प्रयत्न बना रहता है। जड़ भाव में यह प्रयत्न सुप्त रूप में रहता है तथा जीव भाव में भी इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। तथापि इसकी विद्यमानता अवश्य ही वहाँ स्वीकार करनी होगी, अन्यथा प्रकृति के जड़ से जीव में, जीव से मानव में विकास को नहीं समझा जा सकता। इस विकास में चेतना की अपने स्वरूप की ओर उन्मुखता अन्तर्निहित है। मानव में

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

अपने स्वरूप की प्राप्ति के लिए छटपटाहट स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। स्वरूप-ज्ञान की यह अभिलाषा, अथवा कहें मुमुक्षा, कुछ ही मनुष्यों की निधि नहीं है बल्कि यह मानव का सर्वसाधारण स्वभाव है तथा इसका हेतु है मानव का अपनी जागतिक स्थिति से असंतोष, उसकी अपर्याप्तता का बोध। शल्यजी कहते हैं, "यद्यपि हमारा यह लोक अपने-आप में अतलता एवं अपारता लिए हुए है तथापि चमत्कृत कर देने वाली अपने रूप-रगों की इस छटा एवं संभावनाओं के बावजूद मनुष्य ने प्रायः सदैव इस लोक को न केवल अपर्याप्त पाया है बल्कि अनुसरण के अयोग्य, अनन्वेषणीय भी पाया है।"(156) आगे वे कहते हैं "समस्त लौकिक ज्ञान तथा लौकिक मूल्यों की प्राप्ति औपनिषद ऋषि, बुद्ध, कबीर या परमहंस की ज्योति एवं वीर्य के सम्मुख निष्प्रभ जैसे प्रतीत होते हैं।" (पृष्ठ 157) घोर भौतिकवादी मानव में भी असंतोष का यह भाव, अपूर्णता तथा अपर्याप्तता का यह बोध न्यूनाधिक रूप से विद्यमान देखा जा सकता है।

जिस प्रकार हेगल के दर्शन की कुंजी उसकी द्वन्द्वात्मक विधि है उसी प्रकार यह कहा जा सकता है कि शल्यजी के दर्शन को समझने की कुंजी उनका अतिक्रमणता का प्रत्यय है। उनके अनुसार मानव जगत्-भाव को आपन्न चेतना है। आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप शुद्ध विषयिता है। यह आत्मा कल्पना-शक्ति से विषयों का सर्जन करता है तथा इस सर्जन के समय वह इन विषयों से तादात्म्य भी स्थापित करता है तथा अपने आपको विषय-स्वरूप वाला ही समझता है। जैसे कि शंकर ने अपने **ब्रह्मसूत्र भाष्य** में स्पष्ट किया है—यह आत्मा अज्ञानवश अपने-आपको 'मैं देह', 'मैं इन्द्रिय', 'मैं मन', 'मैं बुद्धि' आदि रूपों में सीमित देखता है।

अपने अन्वेषण अथवा आत्मज्ञान के प्रयास में आत्मा जब उस विषय को आत्म-स्वरूप न समझ कर मात्र विषय-रूप समझता है तो वह उस विषय से निवृत्त होकर उसका अतिक्रमण करता है अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति की ओर। किन्तु मात्र एक विषय से उपरति इसे तत्काल ही आत्म-प्रतिष्ठित नहीं करती। पहले वह उसे उच्चतर विषय की ओर ले जाती है। पुनः उससे भी अतिक्रमण करता हुआ आत्मा अंततः परम पद को प्राप्त करता है। यहाँ पर वह किसी भी विषय से तादात्म्य स्थापित नहीं करता, वहाँ वह पूर्ण पारदर्शी और शुद्ध विषयी होता है।

आत्मा के इस परम पद अथवा पारमार्थिक स्वरूप के बारे में शल्यजी का मत अन्य दार्शनिकों से किस प्रकार भिन्न है यह एक विचारणीय प्रश्न है। यहाँ पर हम संक्षेप में ही कुछ बातों की ओर संकेत करेंगे। प्रथम तो उनकी दृष्टि से आत्मा का यह स्वरूप शांकर मत से भिन्न है। मात्र ऐसी विषयिता, जहाँ विषय का सर्वथा अभाव हो, शल्यजी स्वीकार नहीं करते। अतः उसका स्वरूप पूर्णरूपेण निर्विकल्पक नहीं कहा जा सकता। दूसरे, शल्यजी उसमें अहंकार तथा बुद्धि से अतिक्रमण को स्वीकार करते हुए भी उसमें वैयक्तिकता को मानते हैं। आत्मा अपने परमार्थ स्वरूप में भी वैयक्तिकता लिए हुए होती है ऐसा उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

शल्यजी इस विश्व के सर्जक आत्मा को वैयक्तिक मानने के साथ ही अधिष्ठान-भेद से इन आत्माओं को अनेक भी स्वीकार करते हैं। तब प्रश्न उठता है कि प्रत्येक आत्मा द्वारा यह सृष्ट जगत् तथा उसके अर्थ भी भिन्न होने से भिन्न-भिन्न ही होंगे। तब हमारे इस सामान्य जगत्, सर्वमान्य मूल्यों तथा सामान्य सत् का आधार व स्वरूप क्या होगा? भारतीय दर्शनों में दो प्रकार की अविद्या स्वीकार की गई है—समष्टि अविद्या (माया) तथा व्यष्टि अविद्या। समष्टि-अज्ञान ईश्वर की उपाधि है तथा व्यष्टि अज्ञान जीव की। अज्ञान की इस द्विविधता से अनुभव में जीवगत भिन्नता के साथ-साथ समष्टि-अज्ञान द्वारा सर्वसाधारण जगत् की भी व्याख्या हो जाती है। किन्तु शल्यजी न तो इन दो प्रकार के अज्ञानों को मानते हैं और न सर्वसाधारण जगत् के स्रष्टा के रूप में पुरुष विशेष ईश्वर को। ऐसी अवस्था में शल्यजी का दर्शन एक प्रकार से व्यक्तिनिष्ठ प्रत्ययवाद ही सिद्ध होता है जिसकी कठिनाइयाँ सर्वविदित हैं।

भारतीय दर्शन में मोक्ष को आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति के रूप में परिभाषित किया गया है तथा लगभग सभी दार्शनिकों ने इस स्थिति की अनन्तकाल तक स्थिति स्वीकार की है। इसी अर्थ में वे अजरता-अमरता की भी चर्चा करते हैं। शल्यजी शरीर की मृत्यु के बाद की चर्चा नहीं करते। वे अमरता की भी अपनी परिभाषा देते हुए कहते हैं, "अमरता का अर्थ आत्मा-संज्ञक किसी अस्तित्व का अनन्त काल तक बने रहना नहीं है बल्कि आत्मा में सत्य का अवतरण है।"(पृष्ठ 182) किन्तु किसी मूल्य का संरक्षण, चाहे वह कितना ही उच्च क्यों न हो, यदि अल्पकालीन ही हो तो वह हीन ही माना जावेगा। यदि मोक्ष-स्थिति का इस जीवन तक ही बने रहना मानें तब इससे मोक्ष की समस्त गरिमा एवं महिमा समाप्त हो जाएगी।

शल्यजी के सृजन विषयक विचार पर एक टिप्पणी : राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

शल्यजी के विचार-तन्त्र में सृजन की अवधारणा का मौलिक महत्त्व है। परन्तु 'सृजन' को लेकर चर्चा की अनेक दिशाएँ हो सकती हैं, और यह बहुत स्पष्ट नहीं है कि इन में शल्यजी ने किन्हें विशेष महत्त्व का माना है।

यहाँ हम कम से कम तीन दिशाओं अथवा तीन रूपों की चर्चा कर सकते हैं : सृजन में 'उपादान' की भूमिका पर ध्यान दें। सृजन में कृति का संभावित रूप तो पूर्वापेक्षित होता है, परन्तु साथ ही वह माध्यम भी अपेक्षित होता है जो कृति के मूर्त्त होने का निमित्त बनता है।

अब एक स्थिति तो यह हो सकती है कि संभावित रूप का रूपायण केवल मनस् के स्तर पर हो, इस अवस्था में किसी इतर उपादान की आवश्यकता नहीं होती; एक दूसरी स्थिति वह हो सकती है जिसमें सर्जक अपने स्वर, शब्द, शरीर को उपादान मानते हुए उन्हें कोई रूप दे; एक और तीसरी स्थिति वह है जिसमें उपादान सर्जक से कुछ इतर होता है।

तीनों ही अवस्थाओं में उपादान चरितार्थ होने की अवस्था को किसी रूप में सीमित करता है।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

उपादान दो प्रकार से सर्जक के प्रयास की सीमा निर्धारित करता है : अपनी उपस्थिति की अपेक्षा से, तथा अपने स्वरूप से।

अब शल्यजी से पहला सवाल यह है कि वह उपादान की भूमिका के विषय में क्या मत रखते हैं? दूसरा प्रश्न यह है कि सर्जक का भाव्य वांछनीय और अवांछनीय दोनों प्रकार की संभावनाओं की समष्टि है तो वह जिसे भावित रूप में गढ़ना चाहता है उसमें वांछनीय तथा अवांछनीय का भेद किस प्रकार निर्धारित होगा? यदि समष्टि का यह रूप है तब उस की संगति आत्म के शुद्ध एवं पूर्ण रूप के साथ कैसे बैठेगी?

दया जी

इन दोनों टिप्पणियों के अनन्तर नंदकिशोर जी की टिप्पणी को लक्षित करते हुए दयाजी ने कहा कि समकालीन भारतीय दार्शनिक अधिकांशतः वेदान्त या साँख्य की विचार-व्यवस्था के अन्तर्गत ही विचार करते हैं और शल्यजी भी इसके अपवाद प्रतीत नहीं होते। इसके साथ ही उन्होंने एक दूसरी बात भी कही कि यह चिन्तन आत्म-केन्द्रक ही रहता है, अन्य (मनुष्य) के लिए इसमें कोई स्थान नहीं है। अन्य मनुष्य भी जबकि समान रूप से विषयी ही होता है, इस विचार-व्यवस्था में वह विषय के रूप में ही स्थान पा सकता है।

शल्यजी का स्पष्टीकरण

शल्यजी ने इन दोनों आपत्तियों का प्रतिवाद करते हुए कहा कि "वास्तव में नन्दकिशोर जी ने मुझे आमूल रूप से ग़लत समझा है। मेरे विचार-तंत्र में आत्मा आत्म-सर्जन का प्रतिफल, आत्म-विधान का लक्ष्य और पार्यन्तिकता है, कोई पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं, जैसे वेदान्त और साँख्य में है। यह बात मैंने **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में ही अनेक प्रकार से स्पष्ट नहीं की है **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** में भी स्पष्ट की है। यहाँ मैं **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** से एक उद्धरण देना चाहूँगा जो वहाँ अधोरेखांकित है—". . . सत् वह आत्मा है जिसका हम अहंकारौपाधिक वृत्ति से अतिक्रमण में आभास पाते हैं। सत् होने से ही यह आत्मा अन्वेष्य होता है। किन्तु यहाँ यह समझना महत्त्वपूर्ण है कि यह सत् उस सत् से आधारभूत रूप से भिन्न है जिसकी अभ्रान्त विषय के आधार के रूप में हम कल्पना करते हैं। यह सत् चेतना द्वारा अपने आधार के अन्वेषण के क्रम में अपने को सत्यापित करता है, अपने सर्जन के क्रम में अपने स्वरूप को रचता और अपने अवगाहन के क्रम में अपने को अर्थ देता है।"(178) इसी प्रकार मेरी विचार-व्यवस्था में जगत् के तात्त्विक मिथ्यात्व के लिए भी कोई स्थान नहीं है। आत्मा को मैंने आत्म-विधान या आत्म-विधायकत्व कहा है और जगत् को चेतना का जगद्भाव। जगत् चेतना का जगद्भाव होने से उसी प्रकार मिथ्या नहीं है जिस प्रकार आत्मा चेतना का आत्म-विधान होने से मिथ्या नहीं है। इसी प्रकार आत्मा की अमरता को भी समझने की आवश्यकता है। नन्दकिशोरजी ने पता

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं कैसे यह समझा कि मैं आत्मा का जीवन देह-पर्यन्त मानता हूँ और इस प्रकार मोक्ष को भी देहपर्यन्त मानता हूँ। **किन्तु मैं आत्मा को मोक्षावस्था में अनन्तकाल तक स्थाणु पड़ी रहने वाली वस्तु** भी नहीं मानता। मैंने कहा है कि आत्मा की शाश्वतता आदि को कालात्मक रूप में देखना भ्रामक है क्योंकि काल चेतना का विषय है न कि चेतना काल का। चेतना के काल से प्राक् होने से चेतना और इस प्रकार आत्मा के भी अस्तित्व, मृत्यु और शाश्वतता या क्षणिकता की बात करना कोटि-व्यामिश्र करना है। "आत्मान्वेषण-2" अध्याय का अन्तिम वाक्य है—"किन्तु तब यह अस्तित्व की परिधि से भी बाहर हो जाता है। ऐसे में आत्मा के, जो चेतना की पूर्णतः अपने स्वातंत्र्य में प्रतिष्ठा है, अस्तित्व का विषय होने का कोई अर्थ नहीं रहता, क्योंकि इसका अपरिमित वैभव अस्तित्व की संकुचित परिधि में नहीं समा सकता।"(पृष्ठ 184). इस वाक्य का अर्थ सम्यक् रूप से समझने के लिए यों तो इस पुस्तक का कम से कम दूसरा अध्याय पढ़ना भी आवश्यक है किन्तु वह अनुच्छेद पढ़ना तो आवश्यक है ही जिसका यह अंतिम वाक्य है।

"जहाँ तक दया जी के दूसरे आरोप का सम्बन्ध है, वह भी नितान्त अस्थाने है। मैंने समाज और संस्कृति पर भी विस्तार से लिखा है और वहाँ समाज को मानव-चेतना का उतना ही मौलिक आयाम प्रतिपादित किया है जितना व्यक्ति को और इतर के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे ऐसे विषयी के रूप में परिभाषित किया है जिसकी आँखों में मैं अपने को विषय रूप में पाता हूँ। दया जी के दोनों आरोप मेरे लेखन से अपरिचय के ही द्योतक हैं। वैसे उनका दूसरा आरोप वास्तव में उन भारतीय दार्शनिकों के लिए भी सही नहीं कहा जा सकता जिन्होंने 'इतर' के स्वरूप पर इस प्रकार विचार नहीं किया, क्योंकि उनके विचार में यह कहीं आपादित नहीं है कि "इतर" स्वरूपतः "अहं" से भिन्न है। हमारे प्राचीन दर्शन में तो पर-चित्त-ज्ञान को आत्म-ज्ञानवत् माना जाता था और पर-काय-प्रवेश की अवधारणा भी स्वीकृत थी। इन दोनों अवधारणओं में आत्म-पर की समरूपता पूर्वगृहीत है।

अब रही आत्माओं के व्यक्तित्व और अनेक होने की बात। इसके कई रूप हो सकते हैं—साँख्य का पुरुष-बहुत्व, जैनियों का जीव-बहुत्व, ईसाइयों और मुस्लिमों का सोल या रूह-बहुत्व। नन्दकिशोर जी ने मेरे विचार को इनमें से किस निदर्श की अनुरूपता में देखा है, यह पता नहीं चलता, किन्तु देखा किसी निदर्श को ध्यान में रखकर ही है। वे सारी उमर अध्यापक रहे हैं इसलिये वे दर्शन के उन खाँचों से मुक्त कैसे हो सकते हैं जिन्हें वे पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं? किन्तु मेरा विचार इन खाँचों में नहीं बैठता। व्यष्टि-भेद और व्यक्ति-भेद को मैंने अहंकारमूलक और औपाधिक कहा है। व्यक्तित्व की औपाधिकता का प्रतिपादन **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक के "मानव तत्त्व" अध्याय में, **चिद्-विमर्श** के "जगत्-वासना" और "धर्म-दर्शन" अध्यायों में और **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के "स्वातंत्र्य" अध्याय में विशेष रूप से हुआ है, यों

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

प्रसंगवश अन्य अनेक स्थानों पर भी हुआ है। किन्तु तब उसे मेरे अनुसार कुंभ और सागर की या घटाकाश की उपमानुसार भी नहीं समझा जा सकता। यह दूसरी उपमा या निदर्श इसलिए ठीक नहीं होगा क्योंकि इसमें उपमान भूत-वस्तुरूप हैं और उपमेय को भी इसी रूप में समझा जाता है, जबकि मैंने मूलगामी रूप से आत्मा, या चेतना मात्र के लिए भी, इस पदावली को अस्वीकार किया है। **सत्ताविषयक अन्वीक्षा** पुस्तक के दूसरे और तीसरे अध्यायों में इस सिद्धान्त का विषेष रूप से प्रतिपादन हुआ है और यह सिद्धान्त **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** के संपूर्ण प्रतिपादन के आधार में है। मैंने पाशव-चेतना को जबकि पूर्णतः अहंकारोपहित कहा है, मानव-चेतना में आहंकारिकता और उसके अतिक्रमण का यौगपद्य देखा है। इसी के अनुसार मैंने **समाज : दर्शनिक परिशीलन** पुस्तक में मानव-चेतना को युगपद् ,रूप से व्यष्ट्यात्मक और अतिव्यष्ट्यात्मक-समाजात्मक कहा है। अब, अध्यापक नन्दकिशोर जी की ओर से प्रश्न हो सकता है कि क्या चेतना मेरे अनुसार व्यष्टित्व से पूर्णतः अनुपहित रूप में भी हो सकती है? मेरा उत्तर है कि "हो सकती है।" चैतन्य शब्द का प्रयोग मैंने चेतना के इसी रूप के लिए किया है और इसे मानव-चेतना में लक्षित अतिक्रामिता या उत्क्रामिता की 'पार्यन्तिक स्थिति' कहा है। इसे पार्यन्तिक कहने में कुंभ के सागर में होने और टूट कर सागर में समाने के निदर्श का निषेध आपादित है। मैं नहीं समझता कि उपनिषद् या कबीर का भी आशय इस उपमा के अभिधात्मक रूप से है, कम से कम मेरा यह आशय स्पष्ट रूप से नहीं है और इसके लिए मैंने सर्वथा भिन्न पदावली का ही प्रयोग किया है। यहाँ नंदकिशोर जी का प्रश्न होगा कि "मुक्तावस्था को आपकी यह पर्यन्तावस्था कह लेते हैं। तब प्रश्न है कि देह-त्याग के बाद मुक्त आत्मा इस पर्यन्तावस्था में शाश्वत काल के लिए रहती है या नहीं रहती है?" इसका मेरा उत्तर है कि शाश्वतिकता यदि क्षणिकता का विपरीतार्थक है तो यह नहीं रहती। ऊपर मैंने 'आत्मा के अस्तित्व' को लेकर जो उद्धरण दिया है उसे कृपया दुबारा देखें। शाश्वत काल तक स्थाणुरूपेण पड़ी आत्मा में यदि आप को गौरव दीखता हो तो मेरी इस में कोई रुचि नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई पद है ही नहीं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यदि यह शाश्वत नहीं है तो यह अशाश्वत है। मेरी विचार-व्यवस्था में चेतना काल की विषय ही नहीं है, काल इसका विषय है। इसलिए मुक्त पुरुष देह-त्याग के बाद रहता है या नहीं रहता, मेरे विचार में यह प्रश्न ही भ्रान्ति-मूलक है।"

डॉ॰ भटनागर की टिप्पणी के सम्बन्ध में शल्य जी ने कहा कि "उनके तीन प्रश्नों में से पिछले दो पर मेरे सृजन विषयक विचार में विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। वास्तव में सृजन को मैंने आत्म-सृजन के रूप में ही देखा है और इसमें अनात्म का, व्यवधान का निवारण सृजन का मूल है। यह सब बात इतने स्पष्ट रूप से मेरे सृजन-विचार में प्रतिपादित है कि इसमें किसी प्रकार के सन्देह के लिए आवकाश

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

नहीं रहता। नैतिकता अथवा धर्म-नीति विषयक अध्यायों में भी इस पर विस्तृत रूप से विचार हुआ है। तब भटनागर साहिब के लिए ये प्रश्न कैसे शेष रहे, कुछ समझ में नहीं आया।

"जहाँ तक उपादान का सम्बन्ध है, मेरे सृजन-विचार में इसका प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ इस कारण इस पर मैंने विचार नहीं किया। इसलिए भटनागर साहिव का यह प्रश्न प्रासंगिक नहीं रहता। किन्तु कला के सन्दर्भ में कहीं मैंने लिखा है कि भावना के विमर्श में कलाकार के लिए आवेगादि प्राकृतिक चित्त उपादान बनता है। मिट्टी आदि उपादान पर विचार का प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ इसलिए उस पर मैंने **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** में विचार नहीं किया, किन्तु इससे सृजन-विषयक मेरे विचार में कोई समस्या उपस्थित होती है, भटनागर साहिब को यह दिखाना चाहिए। इस प्रश्न पर विचार का प्रसंग डॉ॰ मुकुंद लाठ की पुस्तक **संगीत एवं चिन्तन** की समीक्षा में उठा और वहाँ मैंने उस पर विचार किया है। यह लेख म. प्र. हिन्दी परिषद् की पत्रिका **साक्षात्कार** के मार्च, 1996 अंक में प्रकाशित हुआ है।"

सरला कल्ला
संयोजिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

"श्री यशदेव शल्य का दर्शन" पर

रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर में 26-27 फरवरी 1996 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी का संक्षिप्त विवरण

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली के सौजन्य से 26 से 28 फरवरी 1996 तक दर्शन विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म. प्र.) में समकालीन भारतीय चिंतक श्री यशदेव शल्य के दर्शन पर केन्द्रित एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी में देश के विभिन्न भागों से पधारे विद्वज्जनों ने भाग लिया।

इस संगोष्ठी में निम्न विद्वानों ने भाग लिया : प्रो. गोविन्दचन्द्र पांडे, अध्यक्ष, इलाहाबाद संग्रहालय, इलाहाबाद, प्रो. रमेशचन्द्र शाह, हमीदिया महाविद्यालय, भोपाल, प्रो. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर, जयपुर, डॉ॰ के. एल. शर्मा, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, डॉ॰ मुकुंद लाठ, जयपुर, डॉ॰ नंदकिशोर शर्मा, गुड़गाँव (हरियाणा), डॉ॰ सरला कल्ला, एसोसिएट प्रो., राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, डॉ॰ आलोक टंडन, हरदोई, डॉ॰ (श्रीमती) योगेश गुप्ता, जयपुर, डॉ॰ भगवती राव, जयपुर तथा श्री कमलनयन, भरतपुर।

स्थानीय विद्वानों में से प्रो. त्रिलोचन पांडेय, भूतपूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय (जबलपुर) प्रो. छाया राय, संयोजिका, प्रो. श्री प्रकाश दुबे, आचार्य, दर्शन विभाग, रा. दु. वि. वि. ने भी भाग लिया। विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के प्राध्यापकों डॉ॰ गायत्री सिन्हा, डॉ॰ दीनानाथ शुक्ल, डॉ॰ भरतकुमार तिवारी, डॉ॰ प्रियव्रत शुक्ल के साथ विभाग के सभी छात्र-छात्राओं की आयेजन में उल्लेखनीय सहभागिता रही। इनके अतिरिक्त डॉ॰ इंदिरा वर्मा एवं डॉ॰ प्रीति जैन, मान कुँवरबाई महिला महाविद्यालय, सुश्री ललिताबाला वर्मा, महाकोशल स्वशासी कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, रामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा प्रकोष्ठ के डॉ॰ दुर्गाशंकर शुक्ल एवं श्री आकोटकर इत्यादि ने भी संगोष्ठी में भाग लिया।

संगोष्ठी का उद्घाटन 26.2.1996 को अपराह्न 3.00 बजे हुआ।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के सौजन्य से "दार्शनिक से मिलिये" शृंखला के अंतर्गत आयोजित इस संगोष्ठी का उद्घाटन विश्वविख्यात वैज्ञानिक प्रो. यशपाल ने दीप प्रज्ज्वलन के साथ किया। कार्यक्रम के विशिष्ट अतिथि और विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ॰ जगदीशप्रसाद शुक्ल ने वाग्देवी सरस्वती की प्रतिमा पर माल्यार्पण किया। इसी अवसर पर दर्शन विभाग के प्राध्यापक डॉ॰ श्रीप्रकाश दुबे द्वारा संपादित पुस्तक "प्रॉब्लम्स ऑफ इंडियन फिलोसोफी" का विमोचन प्रो. यशपाल द्वारा किया गया।

प्रो. यशपाल ने अपने व्याख्यान में ज्ञान को समझने की समस्या पर अपने विचार व्यक्त किये और कहा कि ऐसा ज्ञान, जिसका ज्ञान की अन्य शाखाओं से सम्बन्ध न हो, समुचित ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

श्री यशदेव शल्य के दर्शन पर विख्यात चिंतक एवं दार्शनिक प्रोफेसर गोविन्द चंद्र पाण्डे ने कहा कि यशजी के लिये दर्शन विषय नहीं, बल्कि जीवन का ढंग है। उन्होंने अपना संपूर्ण रचनाकर्म हिन्दी में किया है जिससे उनके विचारों में मौलिकता और प्रखरता आयी है। उन्होंने न केवल दार्शनिक चिन्तन को बल्कि दर्शन की भाषा को भी निखारा है। श्री शल्य के दार्शनिक पड़ाव बदलते रहे हैं और उन्होंने अपने दर्शन के अनुकूल भाषा भी गढ़ी है। वेदांत का शल्यजी के दर्शन में विशेष महत्त्व है, किन्तु उन्होंने उसे अपने चिन्तन से निखारा है और नयी दिशा दी है।

प्रो. छाया राय, विभागाध्यक्ष दर्शनशास्त्र विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, ने भी श्री शल्य के दार्शनिक चिंतन पर प्रकाश डाला। श्री शल्य ने अपने दर्शन के सम्बन्ध में कहा कि मैंने दार्शनिक विचार सत्य पाने के लिए ही किया और परिणामतः किसी संप्रदाय में सीमित नहीं हुआ। मेरा इधर का चिन्तन तो सीधे विचार्य विषय से ही जूझता है, अन्य चिंतकों की आलोचना या समीक्षा में नहीं पड़ता। अपने अध्यक्षीय उद्‌बोधन में विश्वविद्यालय के कुलपति श्री जे. पी. शुक्ल ने कहा कि सशक्त चिंतन सदैव ग्रंथियों से मुक्त करता है। शल्यजी ने ऐसा ही दार्शनिक चिंतन किया है। उन्होंने अ. भा. दर्शन परिषद् की स्थापना और संचालन करके सारे दार्शनिकों को एक स्थान पर एकत्र होने का अवसर भी प्रदान किया। साथ ही हिन्दी में दार्शनिक पत्रिकाओं का संपादन-संचालन कर हिन्दी में दार्शनिक चिंतन को प्रोत्साहित किया।

उद्‌घाटन-कार्यक्रम का संचालन दर्शन विभाग की उपाचार्य डॉ॰ गायत्री सिन्हा ने किया। विभाग के डॉ॰ श्रीप्रकाश दुबे ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

आकाशवाणी जबलपुर द्वारा 27 फरवती मंगलवार को "परिक्रमा" कार्यक्रम के अंतर्गत संगोष्ठी का विवरण प्रसारित किया गया। इसके पश्चात् आकाशवाणी द्वारा कार्यक्रम के अंतर्गत शल्यजी के वक्तव्य के संपादित अंशों का भी प्रसारण किया गया।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के दूसरे दिन 27 फरवरी को श्री यशदेव शल्य के दर्शन पर विद्वानों ने अपने शोध पत्रों का वाचन किया। विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र विभाग में तीन सत्रों में आयोजित संगोष्ठी के प्रथम सत्र में प्रो. रमेशचन्द्र शाह ने "सृजनशीलता का दर्शन और दर्शन की सृजनात्मकता" विषय पर अपने पत्र में श्री शल्य के सृजनात्मकता के सिद्धान्त का विवेचन-विश्लेषण किया और श्री शल्य की सृजनशील दार्शनिकता पर भी प्रकाश डाला। प्रो. राजेन्द्रस्वरूप भटनागर ने "सत्, अस्तित्व तथा मूल्य" विषय पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत किया, जिसमें उन्होंने मूल्य सम्बन्धी अवधारणाओं और उनके महत्त्व पर प्रकाश डाला। प्रथम सत्र की अध्यक्षता डॉ॰ मुकुंद लाठ ने की।

दूसरे सत्र के अध्यक्ष डॉ॰ राजेन्द्रस्वरूप भटनागर थे। इस सत्र में डॉ॰ आलोक टंडन और श्री कमलनयन ने क्रमशः "यशदेव शल्य का संस्कृति चिंतन : वर्तमान

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

भारतीय परिप्रेक्ष्य में" तथा "शल्यजी का संस्कृति-दर्शन" विषय पर अपने पत्रों का वाचन किया।

संगोष्ठी के तृतीय सत्र में पूर्व के दो सत्रों में पढ़े गये शोध पत्रों पर सभी वक्ताओं, विभाग के प्राध्यापकों और छात्र-छात्राओं ने अपने विचार एवं निदान प्रस्तुत किये। इसी सत्र में प्रो. त्रिलोचन पांडेय ने "श्री यशदेव शल्य भाषा के संदर्भ में" और प्रो. के. एल. शर्मा ने "अर्थगर्भता बनाम रिक्तता और जड़ता : मनुष्य की एक वैकल्पिक अवधारणा" विषयों पर अपने पत्रों का वाचन किया।

संगोष्ठी के तीसरे और अंतिम दिन 28 फरवरी 1996 को दर्शन विभाग की अध्यक्ष प्रो. छाया राय ने "शल्यजी की नैतिकता सम्बन्धी अवधारणा : समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर अपना शोध पत्र प्रस्तुत करते हुए कहा कि श्री शल्य समाज दार्शनिक के रूप में नैतिकता के वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही आयामों की व्याख्या अपनी गंभीर समीक्षात्मक चिंतन शैली में करते हुए अनेक विचारोत्तेजक नैतिक समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। उन्होंने कहा कि विवेक व उदात्त भावनाएँ ही समाज को मूल्यान्वेषण की परम्परा के रूप में मूल्यवान् सत्ता बनाते हैं।

28.2.96 को संगोष्ठी के प्रथम सत्र में डॉ॰ नन्दकिशोर शर्मा ने "शल्यजी के दर्शन में आत्मान्वेषण एवं स्वातंत्र्य" और डॉ॰ मुकुंद लाठ ने "शल्यजी के दर्शन में चेतना का स्वरूप" विषय पर अपने पत्रों का वाचन किया। इस सत्र के अध्यक्ष डॉ॰ के. एल. शर्मा थे। दूसरे सत्र की अध्यक्षता प्रो. रमेशचन्द्र शाह ने की। इस सत्र में डॉ॰ (श्रीमती) योगेश गुप्ता ने "शल्यजी का पुरुषार्थ विवेचन" पर और डॉ॰ भगवती राव ने "शल्यजी का नीति-दर्शन" विषय पर अपने लेख प्रस्तुत किये। तृतीय सत्र की अध्यक्षता प्रो. त्रिलोचन पाण्डेय ने की। डॉ॰ सरला कल्ला ने इस सत्र में "शल्यजी का कला-दर्शन" पर अपना शोधपत्र पढ़ा। इन सब लेखों में उठायी कई आपत्तियों और शंकाओं के शल्य जी ने उत्तर दिये। कार्यक्रम के समापन सत्र में श्री यशदेव शल्य ने अपने दार्शनिक विचार के विकास पर प्रकाश डाला। संगोष्ठी का समापन सायं 6.50 बजे हुआ।

इस त्रिदिवसीय संगोष्ठी के अवसर पर भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् की ओर से उसके प्रकाशनों की प्रदर्शनी का आयोजन भी किया गया। परिषद् ने शल्यजी की "**मूल्यतत्त्व-मीमांसा**" पुस्तक की प्रतियाँ भी गोष्ठी में भाग लेने वालों को भेंट कीं।

राष्ट्रीय संगोष्ठी के पश्चात् 29 फरवरी को अतिथियों ने जबलपुर नगर से लगे भेडाघाट, धुँआधार, पंचवटी आदि पर्यटन-स्थलों का भ्रमण किया। गोष्ठी में भाग लेने वाले सब प्रतिनिधियों ने एक स्वर से गोष्ठी में हुई चर्चा के उत्कृष्ट स्तर पर सन्तोष व्यक्त किया।

प्रोफेसर (कु.) छाया राय
संगोष्ठी-संयोजिका

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

1. फिलॉसफी ऑफ के. सच्चिदानन्द मूर्त्ति — संपादक, शिवजीवन भट्टाचार्य, अशोक वोरा।

2. फिलॉसफी ऑफ दयाकृष्ण — संपादक, भुवन-चंदेल, के.एल. शर्मा।

3. फिलॉसफीकल इन्वेस्टीगेशंस् — ले. विट्गेंस्टाइन, हिन्दी-अनुवाद : अशोक वोरा (प्रकाशक — भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली)।

4. धर्मकीर्ति विरचित न्याय बिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या — गोविन्दचन्द्र पांडे।

5. रत्नकीर्ति विरचित अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या — गोविन्दचन्द्र पांडे (प्रकाशक — केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी)।

6. त्रिपुरा रहस्य और ब्रह्मयोग (ज्ञान-प्रकरण) अभिव्यक्ति — ब्रह्मयोगी हरिश्चन्द्र।

7. सद्विद्या एवं योग-भक्ति सूत्र, अभिव्यक्ति — ब्रह्मयोगी हरिश्चन्द्र।

8. महर्षि रमण का अध्यात्म-चिन्तन, संग्रहकर्त्ता — मुनगल एस.वैंकटरामैया अनुवाद : दिनेशचन्द्र शर्मा
[परमेश्वर दयाल, 16, पश्चिमी नवाबगंज, पंचमुखी मुहल्ला, मुज़फ्फरनगर (उत्तर प्रदेश)]।

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection

Digitization by Hindu Heritage Foundation of America-USA

CC0. In Public Domain. Prof. Ambika Dutt Sharma, Varanasi Collection